॥ श्री ॥

संक्षिप्त

जैनधर्म-प्रकाश

जैनी जाने जैन ने, जिन न जानो जैन।
जे-जे जैनी जैन जन, जाते निज निज नैन॥



प्रचारक—

बा० धर्मचन्द्र धम्मावत

भाट की गली

बनारस।

वीर सं० २४७२

विषय-सूची

———

नम्र निवेदन

समय परिवर्तनशील है। अतः कोई भी पदार्थ संसार में अपनी एक-सी स्थिति बनाए नहीं रह सकता। भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रचलित, भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा प्रवर्द्धित और भगवान महावीर द्वारा प्रचारित हमारे जैनधर्म की भी ऐसी ही दशा है। आदि तीर्थङ्करों की बातों को तो जाने दीजिए। केवल अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर को ही लीजिए। भगवान् महावीर ने संसार को समता का पाठ पढ़ाया, जीवमात्र के साथ मैत्री करना सिखाया, ज्ञान गुण को आत्मा का निज रूप बताया एवं रागद्वेष को संसार-बन्धन का कारण भी बताया था। इसलिये भगवान् की व्याख्यान-सभा में परस्पर विरोधी जीव सामुहिक शान्ति का अनुभव कर आपसी बैर-विरोध आदि को भूल गए थे और यही ख़ास कारण है कि भगवान की दिव्य पताका की शरण लेकर आत्मानुभव तक करते थे। उस समय का जैन-समाज भारतवर्ष में अपना एक ख़ास व्यक्तित्व रखता था। दया, अहिंसा, वात्सल्य आदि गुणों ने संसार में ऐसी धाक जमा रखी थी कि भारत के व्यापार में, व्यवहार में, और परोपकार प्रवृत्त आदि सभी में जैनी सबसे प्रमुख माने जाते थे। इसका मुख्य कारण हमारा उस समय में सामूहिक संगठन था और भगवान् महावीर के ज्ञान का पूर्ण आशय हम अपने हृदयों में अपनाए हुए थे। यही मुख्य कारण है कि हमारी सहानुभूति जीवमात्र से है। किन्तु दुर्भाग्य से आज समय ने

ऐसा पल्टा खाया है कि जो हमारे भाई थे वे भी हमारे न रहे। आज के दो हजार वर्ष पूर्व तक कलिंगाधिपति महाराज खारवेल के जमाने में हमारी समाज की करोड़ों की जन-संख्या थी। आज पुरातत्त्व विभाग हमारी पुरातन सामग्री देखकर हमारी प्राचीनता और सामूहिक शक्तियों का गीत गाते हुए भी नहीं अघाते और आज हम भगवान महावीर की उसी विश्वहितैषिणी पताका का आश्रय लिए हुए भी अपनी आपसी मलीनता और विद्वेष भाव से संसार की आँखों में खटक रहे हैं। क्या यही भगवान की समस्या थी ? जो आज हमको तीर्थों के झगड़ों में, मूर्तियों की पूजा में, और तात्विक भाषणों में, पद-पद पर नजर आ रही है ? क्या यही हमारा विश्व बन्धुत्व का नमूना है ? जो आज हम चौदह लाख की जन संख्या में रहकर भी अपना कोई स्थान भारत में नहीं रखते। हमसे हर तरह से पिछड़ी हुई अन्य समाजें तथा जातियाँ अपनी सहृदयता और संगठन का स्वाद लेकर अपना हर जगह प्रतिनिधित्व देखना चाहती हैं। क्या भगवान ने यही हमको सिखाया था ? क्या हमारा यही वात्सल्य है ? जो हमको मोक्ष की प्रथम सीढ़ी तक ले जावेगा ?

जैनबन्धुओ ! सोचो ! और खूब सोचो ! जो जैन-धर्म विश्व-धर्म कहलाता था, जिस धर्म की ध्वजा प्राणीमात्र को आश्रय देकर शान्ति और सङ्गठन का पाठ पढ़ाती थी, आज उसी पताका का आश्रय लिए हुए भी हमलोग दिगम्बर जैन, श्वेताम्बर जैन, स्थानकवासी जैन, तेरापंथी जैन आदि नामों से अपने फिरके बनाकर अपनी शक्ति को व्यर्थ बरबाद कर रहे हैं।

आज भी व्यापारिक समाज में हमारा नाम और हमारी धाक है। हमारी सैकड़ों मिलें, कल-कारखाने और आदान-

प्रदान की बड़ी-बड़ी कोठियाँ भी हैं। पर बतलाइये तो आपके कितने कॉलेज चल रहे हैं. जिनमें भगवान ऋषिभदेव, पार्श्वनाथ तथा महावीर की दिव्यवाणियों आदि का प्रचार हो रहा है? आज कितने महाविद्यालय हैं, जो आत्मा के अनुभव करानेवाले सात तत्त्वों का एक परिभाषा में अध्ययन करा रहे हों। कौनसी ऐसी सोसाइटी है, जो हमारा सामूहिक प्रतिनिधित्व प्रान्तीय असेम्बली या केन्द्री धारासभा में कर रही हो?

क्या हमने विश्व के पुनर्निर्माण में हाथ नहीं बँटाया या भारत में उठनेवाले आन्दोलनों में अपनी पूर्ण शक्ति के अनुसार भाग नहीं लिया है? फिर बतलाइए कि जैन-समाज का कौनसा प्रतिनिधि हमारे स्वार्थों की रक्षा में लगा हुआ है? इसका मूल कारण आपसी मनमुटाव तथा अपने जैनधर्म के महान सिद्धांतों के प्रति हमारी अज्ञानता ही है। जिस धर्म के नाम पर हमारा आपस में मनमुटाव है, उसी धर्म की रूपरेखा तथा विशेषता आदि को आज हम इस ध्यान से आपके करकमलों में समर्पित कर रहे हैं कि आप इसे पढ़ें, मनन करें और फिर अनुभव करें कि हम क्या आज वास्तव में जैनत्व के प्रतीक हैं? यदि हमारे बन्धुओं ने भगवान की दिव्यवाणी का कुछ भी सार समझा और परस्पर के सङ्गठन की आवश्यकता का उन्होंने कुछ भी अनुभव किया, तो हम समझेंगे कि हमारा श्रम कुछ सफल हो गया—जैनधर्म के मुख्य-मुख्य विषयों पर विचार करने के साथ-साथ इस पुस्तक में जैनधर्म का रेखाचित्र श्वेताम्बर समाज के ठोस विद्वान विद्यालङ्कार आचार्य पूज्य श्रीहीराचन्द सूरिजी महाराज काशी और दिगम्बर जैन-समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा प्रोफेसर जैन-धर्म, 'काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय' धर्मालङ्कार पं० पन्नालाल

जी शास्त्री, काव्यतीर्थ के विचारों को सम्मिलित किया गया है। इन दोनों ही विद्वानों की धार्मिक रूपरेखा में किसी को किसी प्रकार की विभिन्नता प्रतीत नहीं हो रही है। हमको आशा ही नहीं पूर्ण भरोसा है कि पाठक इसे पढ़कर लाभ उठाने का कष्ट करेंगे और इस प्रगतिशील जमाने में अपने सङ्गठन को अत्या-वश्यक समझकर उसकी ओर अपना पूरा ध्यान देने की कृपा भी करेंगे। यदि समाज ने हमारी इस क्षुद्र सेवा को अपनाया तो हम भविष्य में पुनः इसी तरह का साहित्य लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होने का साहस बराबर करते रहेंगे।

भवदीय

एक जैन नागरिक

बारह भावना

(भूधरदास)

(१)

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

(२)

दलबल देई देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार॥

(३)

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

(४)

आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥

(५)

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय।
घर सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥

(६)

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, अवर नहीं घिन गेह॥

(७)

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा।
कर्म चोर चहुँ ओर, सरबस लूटैं सुध नहीं ॥

(८)

सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमैं।
तब कछु बनहिं उपाय, कर्म चोर आवत रुकै ॥

(९)

ज्ञान दीप तप तेल घर, घर शोधैं भ्रम छोर।
या विध बिन निकसै नहीं, पैठे पूरब चोर ॥

(१०)

पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इन्द्री विजय, धार निर्जरा सार ॥

(११)

चौदह राज उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामैं जीव अनादि तैं, भरमत है बिन ज्ञान ॥

(१२)

धन कन कञ्चन राज सुख, सबहिं सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ॥

(१३)

जाचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख दैन ॥

———

वर्तमान काल और धर्म

वत्थुसहावो धम्म—जैनदर्शन

आज संसार में धर्म की जो छीछालेदर हो रही है, वह किसी से भी छिपी नहीं है। इस समय में संसारी मनुष्यों के पृथक्करण करने की ही वस्तु यदि धर्म को मानें, तो भी अनुचित नहीं होगा। हिन्दू में वैष्णव-शैव, मुसलमानों में शीया-सुन्नी, जैन में दिगंबर-श्वेतांबर, बौद्धों में हीनयान-महायान, ईसाइयों में कैथोलिक-प्रोटेस्टेंट आदि विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं आदि की बातों को त्याग भी दें और उनके मोटे-मोटे रूपों तथा सिद्धांतों की दृष्टि से उन्हें देखकर उनपर विचार करें, तो भी हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि संसार के सभी धर्मों के अनुयायी किसी भी ढङ्ग से अपने-अपने धर्म के सिद्धांतों का अनुसरण नहीं करते। यही नहीं, उनकी दृष्टियों में ईश्वर, प्रभु, जिन, या भगवान कोई भी नहीं रह गए हैं। उनकी दृष्टियाँ स्वार्थी दिखाई देने लग गई हैं। जिस समय में संसार में इसप्रकार का वायु-मण्डल का प्रवाह चल रहा हो, उस समय में हम जैन धर्मावलम्बी समाज के लिये भी क्या पूर्व निर्मित शाखा-प्रशाखाओं पर ही चिपटा रहना उचित है? इसी को यहाँ पर प्रकट करने के लिये कुछ लिखा जा रहा है।

धर्म का अर्थ इस समय में सत्य नहीं, स्वार्थ है या यों कहें कि वह मजहब जो इमान को बोध कराने के लिये था, आज वह मतलब गाँठने की चीज बन गया है। इस समय में धर्म एक गूढ़ रहस्य है, एक बड़ी आड़ है, एक अच्छा पर्दा है, वहाँ बैठकर चाहे जितने पाप किए जा सकते हैं। उस बस्ती में गुनाहों की छूट है। बुरे-से-बुरे कर्म चाहे जितने किए क्यों न जायँ, किन्तु धर्म की ओट लिए रहें, धर्म संरक्षकों, मठाधीशों, गुरुओं आदि को बराबर कुछ-न कुछ भेंट दिए जाया करें, फिर क्या है देव-द्वार पर की गई हत्या तक कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म इस समय में सबसे बढ़िया हाजमा हो गया है। आज का संसार का पूरा का-पूरा धर्मवाद रूढ़िवाद के रूप में दर्शन की केवल वस्तु रह गई है। करने के नाम पर वहाँ शून्य ही रहता है।

धर्म का वास्तविक अर्थ कर्तव्य है। किस कर्तव्य के लिये धर्म शब्द को तब आदि समय से प्रयोग करने में आता है, उसपर हमें कुछ लिखना अब आवश्यक जान पड़ता है। कर्तव्य तो कई प्रकार के हैं। सामाजिक कार्य, जिन्हें मनुष्य नित्य किया करता है, वह भी धर्म ही है। राजा या देश के प्रति भी मनुष्य कुछ कर्तव्य करता है, वह भी उसका धर्म ही है। पेट के लिये मनुष्य कुछ कर्तव्य करता है, वह भी उसका धर्म ही है आदि-आदि अनेकानेक कर्त्तव्य हैं, जो कि धर्म के अन्तर्गत में आ जाते हैं। फिर ऐसा कौनसा कर्त्तव्य है, जिसके करने-कराने के लिये संसार में आदि से लेकर अब तक बराबर नानाप्रकार के धर्म सम्प्रदायों का जन्म हुआ है।

सभी धर्मों के धुरंधर विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रत्येक

मनुष्य सुख-प्राप्ति के लिये, प्राप्त सुख की वृद्धि के लिये, दुःख को टालने या कम करने के लिये सदैव कर्म किया करता है। पर जिस मार्ग से वह कर्म करता है, या कर्म जिन-जिन मार्ग से पूरा किया जाता है, वही सम्प्रदायों की दृष्टि से धर्म हैं।

धर्म-विज्ञान की दृष्टि से भी धर्म की व्याख्या करना भी इष्ट जान पड़ता है। ऐतिहासिक काल में कोई भी व्यक्ति धर्म विहीन था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इससे यह जरूर प्रमाणित हो जाता है कि धर्म सभी समय में आवश्यक तथा मुख्य अङ्ग के रूप में मनुष्यमात्र में स्वीकार करने में आया है। किन्तु अपने-अपने धर्म के लिये सर्वोच्च समझनेवाले लोग सभी युगों में और अब भी मौजूद हैं। किन्तु वही धर्म सर्वश्रेष्ट या सर्वोच्च गिना जाता है, जो कसौटी पर जब कसा जाय और श्रेष्ठ निकले। इस कार्य के लिये हमने संसार तथा भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के मतों को पुस्तक के अन्त में संग्रहित किए हैं, जिससे पाठक स्वयं ही समझ लेंगे कि धर्म की दृष्टि में जैनधर्म किस श्रेणी का है।

जयति रागादि दोषान् इति जिनः

अर्थात् राग-द्वेष का विजेता जिन कहलाता है और उसी को माननेवाला तब जैन हुआ। इसका तात्पर्य यह निकला कि जिस धर्म के मानने से राग द्वेष पर विजय प्राप्त की जा सके वही जैन धर्म है।

जैनधर्म और अहिंसा

भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर आदि हमारे पूज्य तीर्थङ्करों के उस महान सिद्धांत को हम अपने पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहते हैं, जिसे हम जैन-धर्म का प्राण कह सकते हैं। वह है अहिंसा। जैन-धर्म के सभी आचार-विचारों की नींव इसी अहिंसा-तत्व पर ही निहित है। यों तो भारत के ब्राह्मण, बौद्ध आदि जितने भी धर्म हैं, सभी ने अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। किन्तु इस तत्व के बारे में जितना विस्तृत, जितना सूक्ष्म और जितना गहन विवेचन जैन धर्म में करने में आया है, उतना गहन विवेचन आदि भारतवर्ष के अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में देखने या पढ़ने और अनुभव करने में नहीं आता। जैन-धर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा-तत्व को उसकी चरमावस्था तक पहुँचा दिया है। उन लोगों ने अहिंसा-तत्व का विवेचन ही केवल नहीं किया है, प्रत्युत उसे आचरण में लाकर व्यावहारिक रूप तक दे देने की कृपा की है। अन्य सभी धर्मों में वह केवल कायिक रूप बनकर ही समाप्त हो जाता है। किन्तु जैन-धर्म में 'अहिंसा-तत्व' उससे बहुत आगे वाचिक और मानसिक रूप होकर आत्मिक रूप तक चला जाता है। अन्य सभी धर्मों में अहिंसा की मर्यादा मनुष्य जाति तक ही समाप्त हो जाती हैं अथवा यदि आगे बढ़ी, तो पशु-पक्षियों के जगत में पहुँचकर समाप्त हो जाती है। किन्तु जैन-धर्म की अहिंसा की कुछ भी मर्यादा नहीं है। हमारे इस धर्म की अहिंसा की मर्यादा में चराचर जीवों का समावेश हो

जाने पर भी वह अपरमित ही रह जाती है। जैनधर्म की अहिंसा की मर्यादा को यदि विश्व की तरह अमर्यादित तथा आकाश की तरह अनन्त भी कहें, तो अनुचित न होगा।

जैनधर्म के इस महान तत्व के यथार्थ रहस्य को समझने-समझाने का प्रयास जैन-धर्मावलम्बियों में-से बिरलों ही ने किया है। संसार के बड़े-बड़े कितने ही धुरंधर विद्वानों की दृष्टि में हमारा यह अहिंसा-तत्व अव्यवहार्य, अनाचरणीय, आत्म-घातकी तथा कायरतापूर्ण समझकर राष्ट्रनाशक तक कहने में आ रहा है। संसार के सभी लोगों के दिमागों में इस बात ने घर कर लिया है कि इसी अहिंसा तत्व ने ही भारत को कायर तथा निर्वीर्य तक बना दिया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आधुनिक जैन-समाज में अहिंसा-तत्व को जिस रूप में देखा तथा माना जाता है, उससे वास्तव में वही प्रतिफल होना अनिवार्य भी है। जैनधर्म के अहिंसा-तत्व ने आधुनिक समय के जैन-समाज को अवश्य ही कायरता का रूप दिया है। जैनधर्म के वर्तमान अहिंसा के रूप को देखकर विद्वान लोग जैन-धर्म को यदि कायरता प्रधान धर्म कहते हैं, तो उसके लिये जैन समाज को दुखी होने का कोई भी कारण नहीं है।

जैन धर्म के अहिंसा-तत्व का वास्तविक रूप इस वर्तमान रूप से एकदम ही विभिन्न है। उसका वर्तमान रूप तो एकदम ही विकृत या बिगड़ा हुआ उसका रूप है। जैन-समाज इस समय में भारत की समृद्धिशाली स्थिति में रहकर भी जैन-धर्म के सिद्धान्त की दृष्टि में पतनोन्मुखी स्थिति को प्राप्त हो चुका है। उसके सारे सिद्धान्त साधु या यति-समाज तक ही सीमित रह गए हैं। उनमें भी हाथी के दांतों की तरह खाने तथा दिखाने की दृष्टि से विभिन्नतावाले देखने में आते हैं। समाज में जब

कभी दैवी संपद् का ह्रास तथा आसुरी संपद् का आधिक्य होने लगता है, तब प्रायः सभी उत्कृष्ट तत्वों का इसी प्रकार विकृत रूप हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में जैन-समाज फिर किस प्रकार उससे अछूता रह सकता है।

जिस धर्म के अनुयायी इतने पराक्रमी, शूर-वीर हो गए हैं और जिन्होंने देश को तथा राज्य को इतना समृद्ध आदि बनाया था, फिर उसी धर्म के प्रचार से देश या प्रजा कायर तथा पतनोन्मुखी किसी भी प्रकार नहीं हो सकती, जो इसको ऐसा कहते हैं, वे हमारे धर्म के इस तत्व की पूरी जानकारी नहीं रखते।

अहिंसा का अर्थ समझने के लिये हिंसा शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिंसी' धातु पर से बना है। इससे 'किसी प्राणी को मारने या सताने' का भाव प्रकट होता है। भारतीय पुरातन ऋषि-मुनियों के मतानुसार 'हिंसा' शब्द का तात्पर्य 'प्राण वियोग-प्रयोजन व्यापार' अर्थात् 'प्राणी दुख-साधन व्यापारो हिंसा' है। इसी बात को अपनी आम बोलचाल की भाषा में इसप्रकार कहा जा सकता है कि प्राणी को प्राण से रहित करने के लिये अथवा प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट देने के लिये जो प्रयत्न या कार्य किया जाता है उसे हिंसा कहते हैं, इसके विपरीत किसी भी प्राणी या जीव को दुख अथवा कष्ट न पहुँचाने को अहिंसा कहते हैं। सब प्रकार से, सभी समयों में, सभी प्राणियों के साथ मैत्रीपूर्वक व्यवहार करने को अहिंसा कहते हैं।

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुखः दुखे प्रिया प्रिये।
चिन्तयआत्मनोऽनिष्टां हिंसा मन्यस्य नाचरेत्॥

—जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य

अर्थात् जिसप्रकार मनुष्यमात्र में प्रत्येक को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार ही वह अन्य प्राणी को भी मालूम होता है। इस कारण हममें-से प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि अपनी आत्मा की तरह ही दूसरों की आत्मा को समझकर उनके प्रति अनिष्ट करनेवाले कार्य न करना चाहिए।

इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने एक श्लोक इस प्रकार से लिखने की कृपा की है:—

सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुह पडिकूला अप्पिय वहा।
पिय जीविणो, जीवि उकामा, (तम्हा) णाति वाएज्ज किंचणं॥

अर्थात् सभी प्राणी को आयु प्रिय है। सभी सुख के अभिलाषी हैं। दुख सबके प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है। सभी जीने की इच्छा रखते हैं। इस कारण किसी को मारना, अथवा कष्ट पहुँचाना ही न चाहिए।

प्रश्न यहाँ पर अब यह उठता है कि इसप्रकार की अहिंसा का पालन मनुष्य से हो ही नहीं सकता। कारण ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ पर जीव न हो। जल में, स्थल में, पर्वत की चोटी पर, अग्नि तथा वायु आदि सभी जगह संसार में जीव भरे हुए हैं। इस कारण मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार में—खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, व्यापार-विहार आदि में—जीव हिंसा होती ही है। इस कारण मनुष्य अपनी सारी क्रियाओं को ही यदि बन्द कर देवे, तभी वह उस प्रकार की हिंसा से बच सकता है जैसा कि करना मनुष्यमात्र के लिये असम्भव है।

जैनाचार्यों ने मनुष्य जाति को सोचा नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि उन्होंने इस अहिंसा को खूब अध्ययन आदि के बाद मनुष्य-प्रकृति के अनुकूल रूप देने का

कष्ट किया है। उन्होंने अहिंसा के कई भेद तक किए हैं। उन भेदों पर यदि ध्यानपूर्वक मनन करने का कष्ट उठाया जावे, तो बड़ी ही सुगमता से वे समझ में आ सकते हैं।

(१) संकल्पी हिंसा (२) आरंभी हिंसा (३) व्यवहारी हिंसा (४) विरोधी हिंसा।

संकल्पी हिंसा–किसी प्राणी को संकल्प कर मारने के लिये संकल्पी हिंसा कहा गया है। जैसे आप बैठे हुए हैं और कोई चिउँटी जमीन पर से जा रही है, उसे केवल हिंसक भावना से जान-बूझकर मार डालना।

आरंभी हिंसा–गृहकार्य में, स्नान आदि के समय में, भोजन बनाने या घर में झाड़ बुहारू देने तथा जल पीने में जो अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा हो जाती है; उसे कहा जाता है।

व्यवहारी हिंसा–व्यवहार में, चलने-फिरने में, जिस प्रकार की हिंसा होती है, उसे व्यवहारी हिंसा कहने में आता है।

विरोधी हिंसा–विरोधी अर्थात् दुश्मनों से आत्मरक्षा करने के लिये अथवा किसी आततायी से अपने राज्य, देश अथवा कुटुम्बी की रक्षा करने के लिये जो हिंसा करनी पड़ती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

इसके पश्चात् भी अहिंसा के जैनाचार्यों ने और भी भेद किए हैं। स्थूल अहिंसा, सूक्ष्म अहिंसा, द्रव्य अहिंसा, भाव अहिंसा, देश अहिंसा, सर्व अहिंसा आदि। उपरोक्त विभिन्न अहिंसा के भेदों में श्रावक (गृहस्थ) के द्वारा आचरणीय तथा साधु-मुनि द्वारा आचरणीय अहिंसा में भी भेद है। इसका विस्तृत विवेचन अन्य किसी ग्रन्थ में किया जायगा।

———

स्याद्वाद

'अनेक सिद्धान्तों का अवलोकन कर, उसके समन्वय (मिलाप) करने के लिये यह शब्द प्रकट करने में आया है। स्याद्वाद एकीकरण का दृष्टि-बिन्दु हमारे सामने उपस्थित करता है। शङ्कराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किए हैं, वे मूल रहस्य के साथ में सम्बन्ध नहीं रखते। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किए बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। इसीलिये स्याद्वाद उपयोगी तथा सार्थक है। महावीर के सिद्धांत में बताए गए स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए यह हमें सिखाता है।

—काशी हिंदू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रो वाइसचांसलर तथा संस्कृत-साहित्य के धुरन्धर विद्वान प्रो० आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

जैन-तत्वज्ञान की प्रधान नींव स्याद्वाद पर ही स्थित है, ऐसा देश तथा विदेश के सभी विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है। कुछ धुरन्धर विद्वानों का तो यहाँ तक दृढ़ मत है कि इसी स्याद्वाद के ही प्रताप से भगवान महावीर ने अपने प्रतिद्वन्दियों को परास्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। जैन-तत्व-ज्ञान में स्याद्वादवाद का ठीक-ठीक क्या अर्थ है, उसको यथार्थ जानने

का दावा बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान तक नहीं कर सकते। फिर भी स्याद्वादवाद को यदि इस प्रकार से कहा जाय कि यह मानव बुद्धि के एकांगीपन को सूचित करता है, तो अनुचित नहीं कहा जायगा। जन्मांध जिस प्रकार हाथी की खोज करता है, ठीक वैसी ही हमारी इस दुनियाँ की भी स्थिति है। यह वर्णन यथार्थ नहीं है, ऐसा कौन कह सकता है? अपनी ऐसी स्थिति है, ऐसा जिसको समझ में आ जावे, वही इस जगत में सर्वज्ञ या यथार्थ ज्ञानी माना या समझा जाता है। मनुष्य का ज्ञान एक पक्षी है, ऐसा जो समझे वही सर्वज्ञ है। किन्तु वास्तविक में जो सम्पूर्ण सत्य है, उसे जो कोई जानता होगा, उस परमात्मा को हम अभी तक पहिचान नहीं सके हैं। इसी ज्ञान में-से ही अहिंसा का उद्भव हुआ है। सर्वज्ञ के बिना अन्य किसी पर अधिकार चलाया नहीं जा सकता। अपना सत्य अपने ही लिए काफी है, अन्य को उसका साक्षात्कार न होने पावे, उस समय तक धैर्य रखना, इसी वृत्ति को अहिंसा वृत्ति कहने में आया है। सारी दुनिया शांति की खोज करता है। त्रस्त संसार त्राहि-त्राहि कह-कर पुकार करता है। फिर भी उसे शांति का मार्ग उपलब्ध नहीं होता। भारत की भूमि में इसी शांति का कभी का निश्चित करने में आया है। किन्तु उस शांति के मार्ग को संसार को स्वीकार करने में अभी काफी विलम्ब होने की आशा है। दुनियाँ जब तक निर्विकार नहीं हो जाती, तब तक भगवान महावीर की पूर्णतावाले मार्ग को उपलब्ध करना नितांत ही कठिन है।

चाहे जो कुछ भी माना या कहा जावे, किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहना तथा मानना पड़ेगा कि जैन-धर्म का स्याद्वाद-दर्शन संसार के तत्वज्ञान में अपना एक खास तथा निराला ही स्थान रखता है। स्याद्वाद का अर्थ होता है—वस्तु

का विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करना, देखना, या कहना। स्याद्वाद के भावार्थ में कुछ विद्वानों ने अपेक्षावाद का शब्द प्रयुक्त करने की कृपा की है। किसी एक वस्तु में अमुक-अमुक अपेक्षा (सम्बन्ध) से भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करने ही को स्याद्वाद का नाम दिया जाता है। उदाहरण-स्वरूप एक मनुष्य है। वह भिन्न-भिन्न या अमुक-अमुक अपेक्षा या सम्बन्ध से पिता, पुत्र, चाचा, मामा, भतीजा, भांजा, पति आदि माना जाता है। उसी ढङ्ग से ही एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्म माने जाते हैं। अब समझने-समझाने के लिये हम घड़े को लेते हैं। एक ही घड़ा (घट) है; उसमें नित्यत्व तथा अनित्यत्व आदि विभिन्न धर्म के दिखाई देनेवाले धर्मों को अपेक्षा-दृष्टि से स्वीकार करने ही के नाम को जैन-दर्शन के सिद्धान्त में **स्याद्वाद दर्शन** का नाम देने में आया है।

घड़ा का दृष्टांत स्याद्वाद के समझनेवालों के लिये बड़ा ही युक्तियुक्त है। जिस मिट्टी से उस घड़े को कुम्हकार ने निर्माण किया है, उसी से ही उसने अनेक प्रकार के अन्य बर्तनों को भी तैयार किए होंगे। ख़ैर, यदि उसी घड़े को फोड़कर वही कुम्हकार उससे और अन्य प्रकार का बर्तन तैयार कर लेवे, तो कोई भी उस नवीन तैयार किए गए बर्तन को घड़ा न कहेगा। वही मिट्टी और द्रव्य रहने पर भी घड़ा न कहने का फिर कारण क्या है ? उसका कारण तो यही है न कि उस बर्तन का आकार-प्रकार घड़े का-सा नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि घड़ा मिट्टी का रहने पर भी उसका एक आकार-विशेष है। यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है कि आकार-विशेष मिट्टी से एकदम ही भिन्न नहीं हो सकता। एक ही मिट्टी आकार-परिवर्तन के जरिए घड़ा, नाद, सकोरा तथा मटका आदि के नामों से

सम्बोधित करने में आते हैं। इसप्रकार यह निर्विवाद है कि इसप्रकार जो भिन्न-भिन्न आकारवाले पदार्थ बने रहते हैं, वे मिट्टी से पृथक नहीं हैं और वे ऐसे पृथक हो भी नहीं सकते। इसप्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि घड़े का आकार तथा मिट्टी दोनों ही घड़े के रूप में मौजूद हैं। अब यहाँ इस बात को देखना तथा समझना है कि इसप्रकार के पदार्थ के जो दो रूप होते हैं, उनमें विनाशी रूप कौनसा है और स्थायी कौनसा? यह तो सभी को प्रत्यक्ष दिखाई या समझ में आ सकता है कि घड़ा का आकार-प्रकार ही विनाशी है। इसका कारण यह है कि वह फूटता है, जिससे उसका रूप आदि नष्ट-भ्रष्ट तक हो जाता है और घड़े का जो दूसरा रूप मिट्टीवाला है वह अविनाशी ही रहता है। क्योंकि उसका विनाश कभी भी नहीं होता। उसे जिस-किसी रूप में परिवर्त्तन क्यों न कर लिया जावे, किन्तु वह सभी स्थानों पर जाकर अपने मिट्टीपन को उसी रूप में कायम रखता है।

इसप्रकार के सारे विवेचन तथा कथन का एकमात्र लक्ष्य यह है कि ऊपर जो घड़ावाला पदार्थ हमने लिया था, उसके दो रूप थे—एक रूप विनाशी और दूसरा रूप अविनाशी। विनाशी को अनित्य तथा अविनाशी को नित्य की संज्ञा दर्शनवादियों ने दी है। इसी तरह प्रत्येक वस्तु को नित्यता तथा अनित्यता प्रमाणित करनेवाले सिद्धांत को **स्याद्वाद** कहने में आता है।

स्याद्वाद के सिद्धान्त को नित्य और अनित्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। सत् तथा असत् आदि रूपों में दिखाई देनेवाली बातें भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं।

इस बात को अनेकांत-जयपताका में जैन तत्व-ज्ञान के प्रकांड आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने इसप्रकार लिखा है:—

यतस्ततः स्व द्रव्यक्षेत्रकाल भावरूपेण सद् वर्तते, पर-द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण चासत्। ततश्च सच्चासच्च भवति। अन्यथा तदभाव-प्रसङ्गात् (घटादिरूपस्य वस्तुतोऽभावप्रसङ्गात्) इत्यादि।

प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश तीन गुण हुआ करते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति या बिनाश तो स्थूल रूप का हुआ करता है। सूक्ष्म परिमाणु तो सदा स्थित रहते हैं। वे सूक्ष्म परिमाणु अन्य वस्तुओं के साथ मिलकर नवीन वस्तु को जन्म दिया करते हैं। जैसे सूर्य की किरणों की गरमी से पानी तो सूख जाया करता है। किन्तु इससे यह समझ लेना कि पानी का ही एकदम अभाव हो गया, समझनेवाले की भारी मूर्खता है। पानी किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही मौजूद रहता है। ऐसा जरूर संभव है कि उसका सूक्ष्म रूप हमको दिखाई न पड़े। यह अटल सिद्धान्त मानना या समझना चाहिए कि संसार की कोई भी मूल वस्तु न तो नष्ट ही होती है और न नवीन ही पैदा हुआ करती है। इन मूल तत्वों में जो नानाप्रकार के परिवर्तन आदि होते हुए नजर आते हैं, वही विनाश तथा उत्पादन की सांसारिक क्रिया हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सारे पदार्थ ही उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश आदि तीनों ही गुणोंवाले हैं।

इन तीन गुणों में जो मूल वस्तु सदा-सर्वदा स्थित रहती है, जैनधर्म-शास्त्र में उसे ही द्रव्य कहने में आता है, और जिनकी उत्पत्ति और नाश होता है उसे पर्याय कहते हैं अर्थात् द्रव्य के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ नित्य और पर्याय के सम्बन्ध से

अनित्य होते हैं। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु को न तो एकांत नित्य ही है और न तो एकान्त अनित्य ही मानना चाहिए। अर्थात् नित्यानित्य मानना ही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

इसी पर जैनाचार्य हरिभद्र सूरि का कथन है:—

मद सद्रूपस्य वस्तुनो व्यवस्थापितत्वात्। सवेदनस्यापि च वस्तुत्वात् तथा युक्ति सिद्धश्च। तथाहि संवेदनं पुरोऽव्यवस्थित घटादौ तदभावेत् रा भावाध्यवसाय रूप मेवोऽपजायते ... न च सदसद्रूपे वस्तुनि सन्मात्र प्रतिभी स्वये तत्वत् स्तत् प्रतिभास्येव, सम्पूर्णार्था प्रतिभासनात्। नरसिंह-सिंह संवेदनवत्। नचेत उभय प्रतिभासिन संवेद्यते तदन्य विविक्तता विशिष्ट स्यैव संवित्तौ। तदन्य विविक्तता च भावः।

इसका तात्पर्य यह है "सदसद्रूप वस्तु का केवल सदात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान नहीं है। कारण यह है कि वह उस वस्तु के पूर्ण अर्थ को प्रकट नहीं कर सकता। जिस प्रकार केवल सिंह के ज्ञान-मात्र से नरसिंह का ज्ञान पूरा नहीं हो सकता।

अतएव जैनदर्शन का मुख्य अङ्ग उसका स्याद्वाद वाला सिद्धान्त ही है। एक ही वस्तु में विभिन्न देश, काल और अवस्थाओं की अपेक्षा से अनेक विरुद्ध या अविरुद्ध धर्मों की सम्भावना हो सकती है। अतः एकान्त रीति से अमुक वस्तु में ही अमुक धर्म है दूसरा नहीं, ऐसा कहना मिथ्या है। स्याद्वाद यह वस्तुमात्र को पूर्णरीति से पहिचानने का नाम है। इसको अनेकांतवाद भी कहने में आता है। इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करने पर वस्तु का सरूप यथार्थ रूप में प्रकट हो जाता है। इस सिद्धान्त को जानने और पालन करने से जगत् का वैर-विरोध शान्त हो सकता है।

विश्वधर्म और जैन

जो धर्म सामाजिक शान्ति में जितना ही अधिक आत्मिक उन्नति के मार्ग के प्रति व्यक्ति-विशेष को ले जाने की शक्ति रखता है, उतनी ही अधिक मात्रा में वही धर्म विश्वव्यापी धर्मों की श्रेणी में उच्चता की श्रेणी का गिना जाता है। सामाजिक शांति में कौन-कौनसे ऐसे गुण हैं, जो बाधक हुआ करते हैं और उनके अतिरिक्त कौन-कौनसे ऐसे गुण हैं, जो उनकी उस प्रकार की शान्ति को बढ़ानेवाले कहे जा सकते हैं। इसी बात की परीक्षा करने से हम अपने लक्ष पर पहुँचने में समर्थ हो सकते हैं। धार्मिक दृष्टि से इस बात पर हम प्रकाश न डालकर केवल सामाजिक दृष्टि से ही यहाँ पर कुछ विचार करेंगे।

हिंसा, क्रूरता, बन्धु-विद्रोह तथा व्यभिचार आदि कुछ सामाजिक दुर्गुण ऐसे हैं, जिनको हम समाज में अशान्ति पैदा करनेवाले कहें तो अनुचित नहीं कहा जा सकता। उसी के विपरीत धर्म, दया, नम्रता, बन्धु-प्रेम तथा ब्रह्मचर्य आदि की शिक्षाएँ ऐसी हैं, जिनके प्रस्तार होने से समाज में शान्ति को अटल बनाए रखने में सहायता प्राप्त होती है। जिस धर्म के द्वारा पहलेवाले दुर्गुणों के प्रति हेय दृष्टि तथा दूसरे गुणों के प्रति आकर्षणपूर्ण दृष्टि से देखने की शिक्षा तथा उत्तेजना प्राप्त होती हो, उसी धर्म के द्वारा व्यक्ति को, जाति को, देश को तथा विश्व को लाभ होता है।

इतना जानते हुए भी इसमें एक बड़ी भयङ्कर बाधा उपस्थित हुआ करती है। उस प्रकार की बाधा मनुष्य प्रकृति के कारण समाज में बराबर ही पैदा होती रहती है। प्रत्येक मनो-विज्ञान-शास्त्री इस बात को भली-भांति से जानता है कि मानव जाति अर्थात् मनुष्य प्राणी प्रकृति दोष तथा गुणों का सम्मिश्रण या समष्टि है। जहाँ उसमें अनेक अच्छे अर्थात् देवोचित गुणों का समावेश रहता है, वहीं पर उनमें अनेक बुरे या असुरोचित दुर्गुणों का भी समावेश रहना अनिवार्य है। इस प्रकार की मनुष्य-प्रकृति की कमजोरी का रहना इतना अटल तथा अनिवार्य है कि संसार का कोई भी धर्म किसी भी काल में उसको दूर करने में न कभी सफल ही हुआ है और न भविष्य में ही वह सफल होने की आशा कर सकता है। यह नितांत ही असम्भव है कि सृष्टि की ये क्रूर तथा घातक प्रवृत्तियाँ बिल्कुल ही विनष्ट होकर रहेंगी। प्रकृति के अन्तर्गत सदा-सर्वदा ये रही हैं और रहेंगी।

अतएव ऐसी आशा करना एकदम ही व्यर्थ है कि कोई भी धर्म इन कुप्रवृत्तियों को नाशकर विश्वव्यापी शान्ति के प्रसार करने में सफल ही हो जायगा। हाँ, इतना जरूर हो सकता है कि प्रयत्न करने पर मनुष्य-समाज में कुप्रवृत्तियों की संख्या में कमी तथा सत्प्रवृत्तियों की संख्या में आधिक्य हो सकता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो धर्म मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों को निकालकर सामाजिक शान्ति की रक्षा कर मनुष्य जाति को आत्मिक उन्नति का मार्ग बतलाता है, वही धर्म श्रेष्ठ है।

इसी कसौटी पर यदि जैन धर्म को रखकर कसा जाये, तो उसका जौहर स्वयमेव ही खुलकर रहेगा। जैन-धर्म के अन्तर्गत

प्रत्येक श्रावक अर्थात् गृहस्थ के लिये अहिंसा, सत्य, आचार, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण आदि पाँच अणुव्रतों की योजना करने में आई है। जैन-धर्म-प्रवर्तक अर्थात् जैनाचार्य यह अच्छी तरह से जानते थे कि साधारण मनुष्य-प्रकृति इन बातों को सूक्ष्म रूप से पालन करने में असमर्थ होगी। इसी कारण ही उन्होंने मनुष्य-प्रकृति को साधारण गिनी जानेवाली इन्हीं बातों को सूक्ष्म रूप से पालन करने की आज्ञा श्रावकों के लिये देने की कृपा भी की है।

जैन धर्म के मतानुसार यदि समाज में समष्टि रूप से उपरोक्त पाँचों वृतों का स्थूल रीति से पालन होने लग जाय और प्रत्येक मनुष्य यदि अहिंसा के सौंदर्य को, सत्य की पवित्रता को, ब्रह्मचर्य के तेज को तथा सादगी की महत्ता को समझ जावें, तो इस बात को दावे के साथ स्वीकार करने में आ सकता है कि मनुष्य-समाज में शान्ति का सार्वभौम प्रचार, प्रस्तार आदि हुए बिना नहीं रह सकता।

संसार में आज जहाँ भी अशान्ति तथा कलह के जो भी दृश्य आदि देखने को मिलते हैं, उन सभी का मुख्य कारण इन्हीं पाँचों वृतों की कमी का होना ही है। अहिंसक प्रवृत्ति के अभाव के कारण संसार में हत्या तथा क्रूरता के नग्न दृश्य नित्य देखने को मिला करते हैं। सत्य की कमी ही के कारण संसार में धोखेबाजी तथा बेइमानी आदि नज़र पड़ती हैं, जिसके लिये न्यायालय तथा पञ्चायतों आदि में हज़ारों-लाखों की संख्या में मुकदमों की पेशियाँ नित्य-प्रति संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों पर होती रहती हैं। उसी प्रकार ही ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण संसार में अनाचार, व्यभिचार आदि के दृश्य हमें नित्य देखने को मिला करते हैं। साथ ही संसार में सादगी के विरुद्ध

विलासिता आदि का बोलवाला सर्वत्र देखने में आता है। यही खास कारण है कि हमें प्रत्येक समाज तथा देश में विलास-मन्दिरों में मनुष्य जाति का अधःपतन देखने को मिलता है।

यह निर्विवाद है कि मनुष्य जाति की इन कमजोरियों को दूर करने के लिये चाहे लाखों प्रयत्न क्यों न किए जावें, पर वे कदापि दूर नहीं की जा सकतीं। फिर भी इतना तो जरूर ही हो सकता है कि इन सिद्धांतों के प्रचार करने से इसप्रकार की कमजोरियों में कुछ कमी जरूर आ सकती है और बर्बरता के विरुद्ध सभ्यता की मात्रा में कुछ वृद्धि भी हो सकती है। इन सिद्धान्तों का जितना ही अधिक प्रचार मनुष्य-समाज में होता जायगा, उतनी ही अधिक शांति की वृद्धि भी मनुष्य-समाज में होगी। इस दृष्टि से यदि खुली आंखों तथा खुले हृदय से विचार किया जाय, तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि जैन-धर्म का प्रभाव सारे संसार पर समान रीति से पड़ता है।

आत्मिक तथा आध्यात्मिक उद्धार के प्रति भी संसार के अन्य धर्मों के मुकाबिले में जैनधर्म को काफ़ी उन्नतपूर्ण मानना तथा कहना ही पड़ेगा। महात्मा बुद्ध सरीखे पहुँचे हुए महान पुरुष तक ने जैन-धर्मावलम्बियों की तपस्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसके लिये विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये 'मज्झिम निकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थ का अवलोकन तथा मनन करने की आवश्यकता है।

इसप्रकार यह निर्विवाद है कि यदि जैन-धर्मावलम्बी गण अपने धर्म के प्रचार के प्रति विशेष ध्यान देने की कृपा करें, तो जैन-धर्म को विश्व-धर्म का उच्च स्थान अवश्य प्राप्त हो सकता है।

———

जैन दर्शन

वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन की तरह ही जैन-दर्शन भी काफ़ी उन्नतपूर्ण स्थिति पर है। जैन-साहित्य में ये आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें आध्यात्मिक विकास का मार्ग बहुत ही सुव्यस्थित रूप से प्राप्त होता है। यह जरूर है कि उनमें उस प्रकार के आत्मिक-उन्नति के मार्ग के चौदह विभाग करने में आए हैं। उन्हें **गुण स्थान** के नाम से सम्बोधन करने में आता है।

गुण स्थान

आत्मा की साम्य तत्त्वचेतना, वीर्य, चरित्र आदि शक्तियों को **गुण** नाम से सम्बोधन करने में आता है और उन शक्तियों की तारतम्यावस्था को **स्थान** कहने में आता है। हम जिसप्रकार सूर्य के प्रकाश को बादलों में छिपा हुआ देखते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुण भी कई प्रकार के आवरणों में छिपकर सांसारिक दशा में आवृत्त रहते हैं। इसप्रकार के आवरणों की शक्ति ज्यों-ही-ज्यों क्षीण होने लगती हैं। अर्थात् जिसप्रकार बादल के फटने या हटने से सूर्य का प्रकाश अपना प्रभाव प्रकट करने लग जाता है, ठीक उसी प्रकार इन आवरणों के क्षय होने से आत्मा के स्वाभाविक गुण भी प्रकाशमान होने लग जाते हैं।

जैन आचार्यों ने स्थूलतम उनकी चौदह स्थितियाँ बतलाई हैं। गुण स्थान की स्थिति मुख्य रूप से मोहक कर्मों की प्रबलता या निर्बलता पर निर्भर करती है। मोह पैदा करनेवाले कर्मों की दो प्रकार की प्रधान शक्तियाँ प्रकट करने में आई हैं—(१) दर्शन (२) चरित्र।

दर्शन शक्ति का कार्य आत्मा के वास्तविक गुणों को आच्छन्न करने का है।

चरित्र शक्ति का कार्य आत्मा के चरित्र गुण को ढँक देने का है।

यही खास कारण है कि आत्मा तात्विक रुचि तथा सत्य दर्शन होने पर भी उसके अनुसार अग्रसर होकर अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है। उपरोक्त दोनों ही प्रकार की शक्तियों में दर्शन मोहवाली शक्ति अधिक प्रबल रहती है। जब तक वह शक्ति निर्बल नहीं बन जाती, तब तक चरित्र मोहवाली शक्ति का बल घट नहीं सकता। दर्शन मोहवाली शक्ति का बल घटते ही चरित्र मोहवाली शक्ति का बल क्रमशः घटने लग जाता है और अन्त में वह शक्ति एकदम से ही नष्ट तक हो जाती है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र आदि आठ कर्मों में मोहनीय सबसे प्रधान तथा बलवान है। उसका मुख्य कारण यह है कि मोहनीय कर्म का जब तक प्राबल्य रहता है, तब तक अन्य कर्मों का बल घट नहीं सकता और उसकी ताकत घटने के साथ-ही-साथ अन्य कर्म भी क्रमशः आप-ही-आप ह्रास को प्राप्त होने लग जाते हैं। यही मुख्य कारण है कि गुण स्थानों की कल्पना मोहनीय कर्म के तारतम्यानुसार ही करने में आई है।

पहला गुण स्थान अविकास काल है, दूसरे तथा तीसरे में विकास का स्फुरण होना प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु फिर भी प्रधानता अविकास की ही रहती है। चौथे गुण स्थान से विकास का कार्य अच्छी तरह प्रारम्भ हो जाता है और इसी चौदहवें गुण स्थान पर जाकर आत्मा पूर्ण कला पर पहुँच जाती है। उसी के बाद मोक्ष प्राप्त होता है। इसी को हम संक्षेप में इस प्रकार भी वर्णन कर सकते हैं। पहलेवाले तीन गुणस्थान अविकास के हैं और अन्तिम शेष के ग्यारह विकास काल के हैं और उसके पश्चात मोक्ष का स्थान रहता है।

यह विषय बहुत ही सूक्ष्म तथा गूढ़ होने से जैन-धर्मावलम्बी समाज इसके प्रति बहुत ही कम ध्यान देती है। किन्तु यदि वे धैर्य से काम लेवें तथा इसको समझने के प्रति भी विशेष रुचि रखने की चेष्टा करें, तो बहुत ही सरलता से उन्हें समझा जा सकता है और उसके प्रति सभी का ध्यान भी आकृष्ट हो सकता है। यह आत्मिक उन्नति के लिये विवेचनावाली स्थिति है। इसी को मोक्ष-मन्दिर की सीढ़ी भी कहें, तो भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार मनुष्य मकान की छत पर जाने के लिये सीढ़ी या जीने का उपयोग या सहायता लेते हैं और उसकी एक-एक सीढ़ी चढ़कर जल्दी या देर से छत पर पहुँचते हैं—ठीक उसी प्रकार मोक्ष-मन्दिर की छत पर चढ़ने के लिये चौदह गुणस्थानवाली सीढ़ी के द्वारा देर या जल्दी से चढ़कर मनुष्य मोक्ष-मन्दिर के द्वार में प्रवेश करने में समर्थ हुआ करते हैं।

चौदह गुणस्थान

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरत

सम्यक् दृष्टि (५) देशविरति (६) प्रमत्त (७) अप्रमत्त (८) अपूर्वकारण (९) अनिवृत्ति (१०) सूक्ष्मसंपराय (११) उपशांत मोह (१२) क्षीण मोह (१३) संयोग केवली तथा (१४) अयोग केवली।

जैन शास्त्रकारों ने आत्मा की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है, उनके नाम ये हैं—मित्रा, तारा, बला, दीपता, स्थिरा, कांता, प्रभा और परा। इन दृष्टियों में आत्मा की उन्नति का क्रम है। प्रथम दृष्टि में जो बोध होता है, उसके प्रकाश को तृणाग्नि के उद्योत की उपमा दी गई है। उस बोध के अनुसार उस दृष्टि में सामान्यतया सद्वर्तन होता है। इस स्थिति में-से जीव जैसे-जैसे ज्ञान और वर्तन में आगे बढ़ता जाता है तैसे-ही-तैसे उसका विकास होता जाता है।

ज्ञान और क्रिया की ये आठ भूमियाँ हैं। पूर्व भूमि की अपेक्षा उत्तर भूमि में ज्ञान और क्रिया का प्रकर्ष होता है। इन आठ दृष्टियों में योग के आठ अङ्ग जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि क्रमशः सिद्ध किए जाते हैं। इस तरह आत्मोन्नति का व्यापार करते हुए जीव जब अन्तिम भूमि में पहुँचता है, तब उसका आवरण क्षीण होता है और उसे केवल ज्ञान मिलता है।

श्रावक तथा साधु

जैन समाज के दो अङ्ग हैं (१) श्रावक (२) साधु।

उनके कर्तव्यों के बारे में जैनाचार्यों ने श्रावक धर्म तथा साधु-धर्म नामक दो शीर्षक देकर काफ़ी विवेचन किया है। श्वेतांबर तथा दिगम्बर साहित्य-भण्डार में इनपर काफ़ी पुस्तकें अपने-अपने मत को पुष्ट करने के लिये स्वतन्त्र रूप से लिखने में आई हैं। किंतु दिगंबर-संप्रदाय की **'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'** शीर्षक पुस्तक ख़ास तौर से श्रावकों के लिये मननीय है।

साधु-धर्म पर हम यहाँ पर विशेष कुछ लिखना नहीं चाहते। कारण जैन-धर्म-प्रकाश पुस्तक श्रावकों के ही लोभार्थ तैयार करने में आई है; क्योंकि साधुओं के लिये संसार में कोई ख़ास कर्म करने को नहीं रहता। श्रावक धर्म पालने के लिये मुख्य बारह व्रत बतलाए गए हैं।

(१) स्थूल प्राणातिपत विरमण (२) स्थूल मृषावाद विरमण (३) स्थूल अदत्तादान विरमण (४) स्थूल मैथुन विरमण (५) परिग्रह परिणाम (६) दिग्व्रत (७) भोगोपभोग परिमाण (८) अनर्थ दण्ड विरति (९) सामायिक (१०) देशावकाशिक (११) पोषध (१२) अतिथि संविभाग।

———

विद्वानों के मत

१—उर्दू भाषा में हिन्दू धर्म की पुस्तकों के सुप्रसिद्ध अनुवादक तथा रचयिता सुप्रसिद्ध विद्वान श्री सुब्रतलाल वर्मन एम० ए० ने अपने उर्दू मासिक पत्र के जनवरी सन १९११ के अङ्क में 'महावीर स्वामी का पवित्रजीवन' शीर्षक लेख में लिखा है:—

गये दोनों जहान नज़र से गुज़र।
तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला॥

(भावार्थ—पीछे का तथा यह (वर्तमान) दोनों काल हमारा चला गया, परन्तु हे प्रभो! तेरे जैसा पवित्र आज तक हमको कोई भी न मिला।)

"ये जैनियों के आचार्य गुरु थे। पाक दिल, पाक ख्याल, मुजस्सम पाकी* व पाकी जर्जा थे। × × × × उन्होंने संसार के प्राणी मात्र की भलाई के लिये सबका त्याग किया × × × × जानवरों का खून बहाना रोकने के लिये अपनी जिन्दगी का खून कर दिया। ये अहिंसा की परम ज्योतिवाली मूर्ति हैं। वेदों की श्रुति "अहिंसा परमो धर्मः" कुछ इन्हीं पवित्र महान पुरुषों के जीवन में अमली सूरत इख्तियार करती हुई नजर आती है।" × × × × इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्म

---

*अद्वितीय।

का कमाल था, यह इन्सानी कमजोरियों में बहुत ही ऊँचे थे। इनका खिताब **जिन** है। जिन्होंने मोहमाया को जीत लिया था, ये तीर्थंङ्कर हैं। इनमें बनावट नहीं थी।'

२–श्री कन्नोमल–जैन-धर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है, जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना बहुत ही दुर्लभ बात है।

३–जर्मनी के डॉ० जॉन्स हर्टल–मैं अपने देश-वासियों को दिखाऊँगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊँचे विचार जैन-धर्म तथा जैन आचार्यों में हैं। जैन-साहित्य बौद्ध-साहित्य से काफी बढ़-चढ़ कर है। ज्यों-ही-ज्यों मैं जैन-धर्म तथा उनके साहित्य को समझता हूं, त्यों-ही त्यों मैं उनको अधिकाधिक पसन्द करता हूँ।

४–फ्रांस के डा० ए० गिरनाट–मनुष्यों की उन्नति के लिये जैन-धर्म का चारित्र बहुत ही लाभकारी है। यह धर्म बहुत ही ठीक, स्वतन्त्र, सादा तथा मूल्यवान है। ब्राह्मणों के प्रचलित धर्मों से वह एकदम ही भिन्न है। साथ-ही-साथ **बौद्धधर्म** की तरह नास्तिक भी नहीं है।

५ श्रीवरदाकांत मुखोपाध्याय एम्० ए०–जैनधर्म हिंदू-धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है पार्श्वनाथ जैनधर्म के आदि प्रचारक नही थे, किन्तु इसके प्रथम प्रचारक **भगवान ऋषभदेव थे।**

६–स्व० डॉ० रवींद्रनाथ टैगोर–महावीर ने डिमडिम नाद में भारत में ऐसा सन्देश फैलाया कि धर्म यह केवल सामाजिक

रूढ़ि नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है। मोक्ष यह बाहरी क्रिया-कांड पालने से प्राप्त नहीं होता, धर्म तथा मनुष्य में कोई स्थायी भेद नहीं रह सकता। कहते हुए आश्चर्य होता है कि इसप्रकार की शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ रूप से बैठी हुई भावना रूपी विघ्नों को त्वरा से भेद दिए और देश को वशीभूत कर लिया। इसके पश्चात् बहुत समय तक × × × × ब्राह्मणों की अभिभूत हो गई थी।

७–बोलपुर के ब्रह्मचर्याश्रम शान्तिनिकेतन के अधिष्ठाता नेपालचन्द्रराय–मुझको जैन तीर्थङ्करों की शिक्षा पर अतिशय भक्ति है।

८–जर्मन डॉ० हर्मन जेकोबी–जैन-धर्म के बारे में कुछ भी लिखना मेरी कलम की ताक़त के बाहर की बात है।

महात्मा गाँधी तथा लोकमान्य तिलक आदि के भी जैन धर्म के बारे में उत्कृष्ट विचार रहे हैं। जल्दी के कारण हम उन्हें संग्रह नहीं कर सके हैं। हमारे पाठक उसके लिये क्षमा करेंगे।

———

उपयोगी शिक्षाएँ

१—ईश्वर एक है, नाम अनेक हैं।

२—किसी का बुरा मत चाहो।

३—हो सके तो किसी की मदद करो, नहीं तो कम-से-कम किसी को तकलीफ़ मत दो।

४—इच्छाओं को कम करो।

५—कठिनाइयों में ईश्वर को याद करो।

६—दुनियाँ के भोगों का आवश्यकतानुसार और बतौर दवाई के उपभोग करो।

७—इस मुसाफिरखाने से मुहब्बत करो, लेकिन इतनी कि जिससे घर न भूल जाय।

८—सन्तोष से बड़ा दूसरा धन नहीं है।

९—दुनियाँ से दिल न लगाओ और मौत को याद रखो, लेकिन नेक काम करने के समय अपने को अमर समझो।

१०—जीवन का लक्ष्य भगवत् प्राप्ति है, भोग नहीं, इस निश्चय से कभी न टलो और सारे काम इस लक्ष्य की साधना के लिये करो।

११—निकम्मे कभी न रहो।

१२—स्वावलम्बी बनकर रहो। दूसरे पर अपने जीवन का भार मत डालो।

१३—विलासिता से दूर रहो, अपने लिये ख़र्च कम लगाओ, बचत के पैसे गरीबों की सेवा में लगाओ।

१४—मन, वचन और शरीर से पवित्र, विनयशील, और परोपकारी बनो।

१५—धन कमाने में छल, कपट, चोरी, असत्य और बेईमानी का त्याग करो। अपनी कमाई में यथायोग सभी का हक़ समझो।

१६—इन्द्रियों के वश न होकर उनको वश करके उनसे यथा योग काम लो।

१७—परिश्रम, व्यायाम और नियमादि के द्वारा शरीर को नीरोग रखो।

१८—कुसङ्ग का त्याग करो। बुरे सङ्ग से बुरी वृति होती है और सर्वथा पतन हो जाता है।

१९—अपने लक्ष्य को सदा-सर्वदा याद रक्खो। प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की सिद्धि ही के लिये करो।

२०—संसार में रहो, पर उसके होकर न रहो। पृथक रहना बस इसी सिद्धान्त पर चलने से मुक्ति हो सकती है।

२१—तुम्हें दुनियाँ में कोई हानि व लाभ नहीं पहुँचाता। जैसा बीज बोते हो, वैसा हो फल तुम्हें मिलता है।

२२—केवल अपनी नासमझी से तुम यदि संसार के लोगों को लाभ न पहुँचाओगे तो स्वयं ही तुम अपने शत्रु बनोगे।

२३—इस शरीर से तुम्हारी आत्मा बिजली के समान एक क्षण में निकल जायगी और फिर तुम ऐसे अन्धकार में फेंक दिए जाओगे कि जहाँ न कुछ देख सकोगे और न कुछ कर ही सकोगे।

२४—भला काम चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, वह भी हीरे के समान प्रकाशमान होता है।

२५—अगर तुम योग और तपस्या करने में असमर्थ हो तो कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिये यही सरल मार्ग है कि अपने हृदय में बुरी भावनाएँ पैदा मत होने दो।

———

परिशिष्ट

निष्फलता

सर्वज्ञ हो, निर्दोष हो, अविरुद्ध हो, अनुपम गिरा।
ये तीन गुण जिसमें प्रगट वह देव है नहिं दूसरा ॥
वह बुद्ध हो श्रीकृष्ण हो, या शम्भु हो श्रीराम हो।
बस भेद-भाव बिना उसे, कर जोड़ नित्य प्रणाम हो ॥
सर्वोच्च है सिद्धान्त सब, निष्पक्षता की दृष्टि में।
इतिहास के पन्ने उलटिए, आप इसकी पुष्टि में ॥
यह हो चुका है सिद्धि जग में जैन-धर्म अनादि है।
स्वीकार करते श्रेष्ठता जग को न वाद-विवाद है ॥

जैन धर्म

[लेखक—पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यालंकार श्रीहीराचन्द सूरिजी महाराज—काशी]

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥
—हरिभद्र सूरि

१-जैन-धर्म क्या है ?

आत्म धर्म को जैन-धर्म कहते हैं, रागद्वेष को विजय करने पर आत्मा स्व स्वरूप में प्राप्त होती है, उसी आत्म स्वभाव में आने के लिये ही धार्मिक नियम, व्रत, अनुष्ठानादि हैं। आत्म स्वभाव ही को आत्म धर्म कहते हैं, जिसके गुण हैं—ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, चारित्र, तप, वीर्य आदि !

पुद्गलासक्ति से ही आत्मा पर-स्वभाव में आसक्त होती है, इससे स्वधर्म स्व स्वरूप को जान नहीं सकती, इस अवस्थापन्न जीवों को 'वहिरात्मा' किंवा जिसको जैन परिभाषा में मिथ्यात्वी और वैदिक परिभाषा में उसी को मुढ़ात्मा कहते हैं। इन्हीं जीवों का संसार है, मुक्ति का मार्ग स्व स्वरूप का बोध किंवा आत्मज्ञान है। स्व स्वभाव किंवा स्वधर्म में स्थिरता ही को धर्म पालन कहते हैं। यही शान्ति का प्रधान धर्म है। जिनेश्वर का उपदिष्ट होने से इसी को जैन-धर्म कहते हैं।

२-जैन-धर्म के स्थापक कौन हैं ?

जैन धर्म के संस्थापक कोई भी नहीं हैं। जीव द्रव्य जब अनादि-सनातन है, तब उसका स्वभाव किंवा धर्म भी अनादि-अनन्त और सनातन होना ही चाहिए। इस धर्म को समझानेवाले, उपदेश देनेवाले, किंवा इस धर्म के प्रकाशक व्यावहारिक दृष्टि से इस काल की अपेक्षा से भगवान श्री ऋषभदेवजी हैं, जो जैन-धर्म के चौबीस तीर्थङ्करों में-से सर्वप्रथम तीर्थङ्कर माने जाते हैं।

जिन कौन है ?

रागद्वेषादि आत्मा के अरि दुर्गुणों के विजेता आत्मा को जिन कहते हैं।

४-जिन मूर्तियों से किंवा वीतराग प्रतिमाओं से क्या शिक्षाएँ मिलती हैं ?

जिन प्रतिमाएँ आत्मा को वीतराग ज्योतिर्मय बनाने में प्रधान आदर्श साधन हैं तथा वीतराग अवस्था एवं आत्म-ध्यान में रहने की ये शिक्षा देती हैं। जिन प्रतिमाएँ वीतराग ज्योति की प्रदर्शिका हैं। इस कारण मोक्ष-मार्ग की वे दीपिका स्वरूप हैं।

५-जैन संस्कृति क्या हैं ?

प्राणीमात्र की पौद्गलिक (भौतिक) आसक्ति को हटाकर, उन्हें आत्मिक विभूति के प्रति आकर्षित करती हैं तथा आत्म गुणों और आध्यात्मिक सुखों का उन्हें उपभोक्ता बनाती हैं। एवं विशिष्ट संस्कारों को दृढ़कर विशिष्ट व्रत नियमादि का अव-

लम्बन कराकर जीवों को जन्म-मरणादि भव-विडंबनाओं से मुक्ति कर देनेवाली पवित्र आध्यात्मिक शिक्षा ही को जैन संस्कृति कहते हैं।

जैन-धर्म में जो दिगंबर-श्वेतांबर आदि शाखाएँ हैं, वे मुनि आश्रित हैं, जैन-धर्म में कोई भी अन्तर नहीं है।

६—अहिंसा का स्वरूप क्या है ?

वह मन, वचन, काया से जीवमात्र के साथ अद्रोह बुद्धि, अनुग्रह, दान, परोपकार, सहयोग, सद्भाव, विनय तथा विवेक आदि आत्म प्रवृतियों का नाम अहिंसा है, जिसका सर्वांश से पालन मुनि जीवन में और देशतः गृहस्थ जीवन में होता है, जिसकी विस्तृत व्याख्या जैनागमों में की गई है।

७-जिन प्रतिमा की पूजा क्यों की जाती है ?

बिना वीतराग अवस्था की उपासना के कर्म बंधन की परंपरा नहीं रुकती, अतः वीतरागावस्था प्राप्ति के ही लिये वीतराग देव, वीतराग-साधु (गुरु), वीतराग धर्म, वीतराग शास्त्रों का स्वाध्याय आदि किए जाते हैं, जैसा कि कहा है 'वीतरागं स्मरन योगी वीतरागत्वमश्नते' वीतराग का स्मरण कर्ता वीतराग स्थिति को प्राप्त करता है।*

इसलिये आत्ममुक्ति के अभिलाषी साधकों के लिये केवल एक वीतराग प्रतिमा ही उपास्य है, इस लक्ष्य से ही जैन मंदिरों

*इसी अवस्था का समर्थन और विधान श्रीभगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ मुनि के लक्षण के रूप में प्रकट करने में आया है।

में जिन प्रतिमाएँ विराजमान की जाती हैं, जिसमें विशुद्ध आध्यात्मिक वीतराग ज्योति का यथार्थ शांत भाव प्रकट होता है, साधना में यही विशिष्ट सहायक होने से प्रतिदिन वीतराग प्रतिमा का दर्शन, पूजन, गुणानुवाद प्रत्येक जीवमात्र के लिये कल्याणप्रद हैं।

८–आत्मा-परमात्मा की परिभाषा क्या है।

सशरीरी, सकषायी, (क्रोध, मान, माया, लोभ) विषयी पाँच इन्द्रियों के तेईस विषयों का उपभोक्ता जीवों को संसारी जीव कहते हैं, जिनका जन्म-मरण होता है, ८४ लक्ष जीव योनियों में भ्रमण होता है, यही संसारी जीवों की स्थिति है। इनसे व्यतिरिक्त अशरीरी, अनाहारी, अकषायी, अवेदी (निर्विकार) आत्म विभूति रूप अनन्त चतुष्क के भोक्ता ही परमात्मा कहे जाते हैं, जोकि किंवा निरुपाधिक, विशुद्ध केवल ज्ञान-केवल, दर्शन से परिपूर्ण, आत्म-विकास को प्राप्त कर शाश्वति परमात्म ज्योति की प्राप्त जीवों को परमात्मा कहते हैं। यही दोनों अवस्थाओं में भेद है। जैनदर्शन ने परमेश्वर की साकार, निराकार दोनों अवस्थाओं को मान्य किया है, इसीलिये ही जैन के प्रातः-स्मरणीय महामन्त्र नवकार में परमात्मा की साकार-निराकार अवस्थाओं का विधान किया गया है प्रथम लोकोपकारी, सशरीरी जीवन-मुक्त अवस्था-अरिहन्त अवस्था यह साकार अवस्था का सूचक है। विदेही परमात्मा-स्वरूप को 'सिद्ध' पद से निराकार परमात्मा की उपासना की जाती है।

९–जैन-धर्म नाम इसका क्यों दिया गया ?

यह धर्म विशिष्ट आत्म विशुद्धि का प्रधान सिद्धान्त विधायक

है। वीतराग दशा का प्रवर्तक है, जब राग-द्वेष रहित मनोवृत्ति होती है, तभी वे वास्तविक में विवेकी बनते हैं। विवेकीजन ही मोक्ष-मार्ग के अधिकारी होते हैं, कारण रागद्वेष से ही दुष्कर्म होते हैं, जिससे चौरासी लक्ष जीव-योनियों में भ्रमण होता है। इसी भव-परम्परा से मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान सच्चा मार्ग वीतराग दशा की प्राप्ति है। यही आत्म धर्म की प्राप्ति का प्रधान मार्ग है। इस अवस्थापन्न आत्मा को 'जिन-अरिहंत-वीतराग-स्थितप्रज्ञ' आदि नाना उपाधियों से जैन-जैनेतर सभी धर्म-शास्त्रों में उल्लेख करने में आया है। थोड़े में कहा जाय तो ऐसा कहा जायगा कि रागद्वेष के विजेताओं का यह धर्म है, इसी से इसको जैनधर्म कहते हैं और इसकी विशेषताएँ ये हैं:—

जैनधर्म का प्रधान प्रातःस्मरणीय महामंत्र नवकार है। इसमें विशिष्ट आत्मस्थिति के परिचायक पाँच पदों की स्थापना है। इसमें किसी व्यक्ति-विशेष के नामों की स्थापना नहीं है, जैसे कि अन्य धर्मों के प्रवर्तकों के नामों की मालाएँ लोग जपा करते हैं।

जैन पूजा का महामंत्र नवकार एक विशिष्ट सिद्धान्त के साथ संबद्ध है, जिसका यथार्थ स्मरण ज्ञानी ही कर सकता है। दुनियाँ के धर्म अभी यह निश्चय नहीं कर सके हैं कि ईश्वर निराकार है या साकार है? कोई साकार ईश्वर की सिद्धि करता है, तो कोई निराकार। किन्तु जैन-दर्शन ने अपने प्रधान इस नवकार महामन्त्र में परमेश्वर की दोनों ही अवस्थाओं को मान्य देकर इसका निर्णय कर दिया है। मन्त्र में इन्हीं पदों को आद्य पदों में स्थापन किए हैं, अन्य तीन पद विशिष्ट आध्यात्मिक उन्नति के साधकों की उत्तरोत्तर उत्तम स्थिति के परिचायक

'आचार्य-उपाध्याय-साधु' ये तीन पद हैं। ये तीनों ही ईश्वरत्व-पद प्राप्ति के प्रधान साधक हैं। ये तीनों ही साधक आत्म धर्म रूप सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् चारित्र, सम्यग् तप की साधना करते हैं। प्रथम पद में अरिहन्त को साकारी, सशरीरी परमात्मावस्था, केवल ज्ञान, केवल दर्शन संयुक्त साकार परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। इसके बाद में निर्वाण पद को प्राप्त होने पर वही अशरीरी, अनाहारी आदि विशिष्ट स्थिति सम्पन्न केवल विशुद्ध परमात्मज्योति को ही सिद्ध पद कहते हैं। इसी को ईश्वर की निराकार अवस्था कहते हैं. इसके आगे से क्रमशः साधक इन दोनों महत्व की स्थितियों को प्राप्त कर लेते हैं। यही सर्व जीवमात्र के लिये मोक्ष प्राप्ति का प्रधान मार्ग जैन-धर्म है।

इसमें देश, कुल, जाति आदि की आवश्यकता नहीं होती, केवल आत्मा की विशिष्ट योग्यता ही इस मार्ग की अधिकारिणी होती है। यही आदर्श-जैनधर्म की विशेषता है। इसपर-से यह स्पष्ट समझ में आ सकेगा कि इस प्रधान नवकार मन्त्र में पाँच पदों के गुणों का स्मरण ही साधकों को लक्ष्यवान बनाता है। इस महामन्त्र व्यवस्था में भी विशिष्ट सिद्धान्त एवं विशिष्ट आत्म स्थिति का परिचय और विशिष्ट साधना ही का महत्व प्रदर्शित किया गया है। इससे भी जैन-दर्शन की विशिष्टता सिद्ध होती है। जीव मात्र के कल्याण का प्रधान यह धर्म है। इसीसे जीवमात्र का शुभचिन्तक यह धर्म हुआ। इसकी आराधना ही से मनुष्य-जन्म सार्थक होता है। आत्म-विशुद्धि के लिये प्रत्येक जीवमात्र को इस पवित्र जैनधर्म का अवलम्बन लेना चाहिए। इसकी शिक्षा ये है:—

'हे जीवो ! यदि तुमको अब भी भवभ्रमण की विडंबना का ख्याल हुआ हो, तो अब भी सोचो कि इसके कारण क्या-क्या हैं ? इसको समझो तुम अनादिकाल से रागद्वेशवश होकर दुष्कर्म करते रहे हो। अनन्त जीवों के साथ द्रोह, हिंसा, बैर, विरोध चौर्यादि दुष्कर्म करते रहे हो, उसी का यह फल है। चौरासी लक्ष जीव-योनियों में अनन्तकाल से जन्म-मरण कर रहे हो। अब भी हम लोग मुक्ति नहीं प्राप्त कर सके। मनुष्य-योनि में आकर भी यदि हम सबको विचार होता है, तो आज ही जीवन के लक्ष को परिवर्तन करना होगा। रागद्वेष को त्याग कर समस्थिति का उपासक होकर सत्य अहिंसामय जीवन में स्थित रहकर दश लाक्षणिक-आत्मधर्म की उपासना में दृढ़चित्त रहना होगा, तभी अनन्तकालीन सांसारिक भव-विडंबनादि—दुःखों की परिसमाप्ति होगी। फिर क्यों हम लोग प्रमाद में पड़े हुए हैं। अतः गतकाल के अनन्त भवभ्रमणों में बने, अनन्त अपराधों की क्षमत क्षामणा कर चौरासी लक्ष जीव योनियों के जीवों के साथ मैत्री भाव स्थापन करना आवश्यक है। आज से जीवमात्र के साथ द्रोह न कर प्रति दिन सविवेक के साथ, मैत्रीभावपूर्वक परोपकार वृत्ति से वर्तना उचित है। इस पवित्र तथा जैन शिक्षा ने मनुष्यों को विवेकी, विनयवान बनाया, विषय कषायों से मुक्त किया। उनको दानी, शीलवंत, संयमी, तपस्वी एवं द्वादश भावनामय जीवन बनाया, जिसका परिणाम यह आया कि चराचर जगत में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ। इसी से विश्व प्रकृति जीवों को अनुकूल सुखदाई होती है। यही जैनधर्म किंवा आत्मधर्म का यथार्थ पालन का फल है, यही जैनदर्शन की संक्षिप्त रूप-रेखा है।

जैनधर्म सिद्धांत का उपासक है, व्यक्तियों का नहीं। धर्म-

सिद्धान्त पालने से ही व्यक्तियों का महत्त्व है। नवकार मन्त्र में सिद्धान्त की उपासना स्पष्ट है। पाँचों ही पदों में किसी भी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं है, यही इसकी प्रधानता को सिद्ध करता है।

उपरोक्त चर्चा से जैनदर्शन की विशिष्टता तथा उसके अनुरूप आचार-विचारों का कितना श्रेष्ठ विधान आदि है, जिससे जैन मार्ग का ज्ञान होता है, जिसको समझने पर जीवमात्र स्वयमेव उसका अनुसरण करने लगते हैं। इसी में जैनदर्शन की महिमा प्रकट होती है।



शिक्षा

जगत शून्य से नहीं बना है—माया का भी जाल नहीं।
महि-महेश के लाख यतन से—नाश न हो चिरकाल कहीं॥
ईश्वर को क्या पड़ी हुई जो—उसे बना फिर चूर किया।
इससे जगत अनादि सिद्ध कर—सब झंझट को दूर किया॥

सद्-विश्वास ज्ञान सद्धर के—सदाचार को ग्रहण करो।
इन तीनों को अपना करके—सद् सुख पा जग-भ्रमण हरो॥
सब धर्मों का सार यही—पर इसकी जाँच भले कर लो।
स्याद्-वाद नय के काँटे धर—फिर चाहे तो मन धर लो॥

———

जैनधर्म की रूपरेखा

[लेखक—काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के जैन-धर्म के प्रोफेसर धर्मालंकार पं० पन्नालाल जी शास्त्री काव्यतीर्थ]

मङ्गलमय मङ्गलकरन वीतराग विज्ञान।
नमहुँ ताहि जातैं भये अरहंतादि महान॥

जैन-धर्म क्या है ?

संसारी प्राणी संसार के दुखों से भयभीत होकर मनुष्य, पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि पर्यायों में नाना प्रकार के त्रास पा रहे हैं, वे सब प्राणी जिस धर्म के धारण करने से शान्त और उच्चतम अवस्था प्राप्त कर लें, उसी को जैन-धर्म कहते हैं।

क्योंकि जैन-दर्शनकारों ने जीवमात्र का स्वरूप या स्वभाव ज्ञान-जानना और दर्शन-देखना माना है, जो कि वस्तुतः युक्ति-युक्त है। क्योंकि कोई भी जीव चाहे छोटा हो या बड़ा, लेकिन ज्ञानदर्शन उसमें जरूर ही अवस्थानुसार थोड़ा-बहुत पाया जाता है। बिना ज्ञान के संसार में कोई जीव होता ही नहीं, यह जैनधर्म का ही नहीं, भारतीय सभी धर्मों का सिद्धान्त है। फ़र्क सिर्फ़ जैनधर्म की व्याख्या में है। इतना है कि जैन दर्शन प्रत्येक जीव की सत्ता (मौजूदगी) स्वतन्त्र मानता है और अपने-अपने कर्मानुसार उनका फल-भोग मानता है। किन्तु साथ ही

यह भी मानता है कि संसार की प्रत्येक आत्मा अपने ज्ञान का पूर्ण विकास कर परमात्मा बन सकता है। इस दृष्टि ने जैन-धर्म जीवमात्र का रेखा-चित्र एक सा ही बनाता है। भिन्न-भिन्न नहीं। इसीलिये जैनधर्म का यह दावा है कि संसार में यही एक ऐसा धर्म है कि वह आत्मधर्म के नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु अनादि काल के अज्ञान से इस जीव ने अपने स्वरूप को नहीं समझा, इसलिये जड़-अचेतन पदार्थों में अपनापन मान रहा है। कर्म-पटल, जो इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होने में बाधक हैं, उनके द्वारा प्राप्त सुख दुःख में अपने को सुखी दुःखी अनुभव करता है। जिन आत्माओं ने इस कर्म मल को समझ लिया, वे इसे दूर करने में लग गये और अपने स्वरूप का ज्ञान भी उन्हें होने लगा। यही जैन-धर्म का काम है। आत्मधर्म की व्याख्या करते समय जैन-दर्शनकारों ने—

१—उत्तम क्षमा २—उत्तम मार्दव ३—उत्तम आर्जव ४—उत्तम शौच ५—उत्तम सत्य ६—उत्तम संयम ७—उत्तम तप ८—उत्तम त्याग ९—उत्तम आकिंचन १०—उत्तम ब्रह्मचर्य। ये दश धर्म आत्मा के स्वभावरूप प्रतिपादन किए हैं।

१-उत्तम क्षमा

पीड़ें दुष्ट अनेक, बांध मार बहुविधि करें।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे पीतमा॥

क्रोध उत्पन्न होने के कारण दुष्टों की गाली, ताड़नादि के होने पर भी क्रोध का उत्पन्न न होना क्षमा है। क्योंकि आत्मा जब अध्यात्म रस में मग्न हो जाता है, तब आत्मा की स्थायी शान्ति को सुरक्षित रखने की ओर ही उसका झुकाव हो जाता

है। तब दुष्ट पुरुष या हिंसक पशु आदि आकर शान्ति भङ्ग करने की चेष्टा करते हैं, तो वह ज्ञानी आत्मा सोचता है कि अज्ञानी की चेष्टाएँ सदा अज्ञान से भरी होती हैं। उनकी चेष्टाओं से यदि ज्ञानी आत्मा विचलित होने लग जाय, तो आत्मसाधन कैसे करेगा। ये जीव जब अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते, तब मैं अपने क्षमा रूप आत्म स्वभाव को क्यों छोड़ूं। यदि मैंने आत्मबल से इन दुष्टों के उपद्रव को सह लिया, तो मेरे कर्म जो इस समय इनके निमित्त से उदय में आकर कुफल देकर मुझे अपने ज्ञान रूप से भ्रष्ट करना चाहते हैं, क्यों न मैं क्षमा-भाव से अपने स्वभाव को सुरक्षित रक्खूँ, जिससे नवीन बन्धन न हो। जो अनन्त संसार का कारण है।

२–उत्तम मार्दव

मान महाविष रूप, करहिं नीच गति जगत में।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्रानी सदा॥

यह आत्म-पर्याय के साथ होनेवाले ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर इन आठ कारणों को पाकर मदोन्मत्त हो जाता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ये शरीरादि मेरे इसी पर्याय के साथ नष्ट होनेवाले हैं, सदा के साथी नहीं हैं। इसलिये इनके क्षणिक मोह में आकर अभिमान क्यों करूँ; क्योंकि अभिमान जब होता है, तब आत्मा का विवेक नष्ट हो जाता है और विवेक के अभाव में उसका ज्ञान विकृत हो जाता है और मार्दव-धर्म का काम उसे विकृत होने नहीं देना है।

३–उत्तम आर्जव

कपट न कीजे कोय, चोरन के पुर ना बसै ।
सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा ॥

मन, बचन, काय, इन तीनों योगों में कुटिलता का न आना आर्जव है। यह आत्मा सांसारिक माया-ममता के वश में नाना प्रकार के कपट जाल रचकर दूसरों की सम्पत्ति वगैरह हरण करने की चेष्टा करता है और उसकी चिन्ता में सदा तन्मय रहता है, जिससे आत्म-स्वभाव का ज्ञान उसे नहीं रहता। इसी से बचाना आर्जव-धर्म का काम है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव सरल ज्ञानमय है। अतः कुटिलता-छल-कपट उससे सदा दूर रहने से ही उसका भव-बन्धन छूट सकता है।

४–उत्तम शौच

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देह सों ।
शौच सदा निर्दोष, धरम बड़ो संसार में ॥

आत्मा में सन्तोष एक महान गुण है, जिससे यह जीव लाभान्तराय के क्षयोपशम से प्राप्त इन्द्रिय के भोगादि में संतोष कर अपने स्वरूप को विकृत नहीं होने देता और लोभ का काम परम असन्तोष पैदा करना है, जिससे दुखी होकर यह जीव नाना अनर्थों और खोटे कामों को है, जिससे उसे कभी शान्ति नहीं मिलती और शौच-धर्म का काम अशान्ति से बचाना है। इसलिये यह जीव शौच-धर्म की रक्षार्थ बहिरंग शौच–स्नानादि पिंड शुद्धि और अन्तरंग शुद्धि-रागद्वेषादि मलिन भावों से अपनी आत्मशुद्धि को करता है।

५–उत्तम सत्य

कठिन वचन मति बोल, परनिंदा अरु झूठ तज।
साँच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी॥

जब आत्मा रागद्वेषादि भावों को आत्मा से भिन्न समझता है और आत्मा का अनुभव हो जाता है तब वह अपने सत्यांश को सदा सुरक्षित रखने की चेष्टा करता है। इसीलिये न तो कभी मिथ्या व्यवहार करता है और न असत्य वचन बोलकर या दूसरों की निन्दा-बुराई कर अपनी आत्मा को या पर को कष्ट देने की कुचेष्टा करता है। क्योंकि इसप्रकार के मिथ्याचरण से उसका सत्य विज्ञान स्थिर नहीं होने पाता।

६–उत्तम संयम

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन बस करो।
सञ्जम रतन सँभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥

जिस व्यवहार या आचार से अपने को या पर प्राणी को कष्ट पहुँचे या पहुँचने की आशंका हो, ऐसी क्रियाओं से मन और इन्द्रियों का निग्रह करना संयम धर्म है। पंचेन्द्रियों के विषयों में मन या आत्मा को न लगने देना इन्द्रिय संयम है। पाँच स्थावर और त्रस्त जीवों की रक्षा करना प्राण संयम है। विषय पंचेन्द्रियों के भोग और कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर्य्य ये आत्मा के बड़े शत्रु हैं। क्योंकि इनके संयोग से आत्मा बहकने लगता है। अतः इनका निग्रह करना ही संयम है।

७–उत्तम तप

तप चाहैं सुरराय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादशविधि सुखदाय, क्यों न करै निज सकति सम॥

आत्मा का स्वभाव अनादि से ज्ञानावरणी आदि कर्मों से अत्यन्त मलीन होता रहता है। उस मलीनता को दूर करने के लिये तप करना अत्यावश्यक है। जैसे सुवर्ण पाषाण में-से बिना तपाए सोना अलग नहीं होता, उसी तरह कर्म मल भी बिना तपस्या के अलग नहीं होते। इसलिये अनशनादि बहिरङ्ग तप और स्वाध्याय आदि अन्तरङ्ग तप से उपयोग स्थिर करना तपधर्म है।

८–उत्तम त्याग

दान चार परकार, चार संघ को दीजिये।
धन बिजुरी उनहार, नरभव लाहो लीजिये॥

आत्मभाव को कलुषित करनेवाले रागादिभावों को त्याग करना और रागादि बढ़ानेवाले द्रव्यादि को उत्तम पात्र–साधु-संत, मध्यम पात्र–सम्यग्ज्ञानी और नैष्ठिक चार पालक, जघन्य पात्र–सत्य विश्वासी एवं परम विवेकवान, इनके अलावा दीन, दुखी रोगी, अज्ञानी आदि पुरुषों को आहार, औषधि ज्ञानादि देना तथा शरणागतों को अभयदान देना त्यागधर्म है।

९–उत्तम आकिंचन

परिगह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराज जी।
त्रिसना भाव उछेद, घटती जान घटाइये॥

जिस पदार्थों के संग्रह और रक्षादि में निरन्तर आत्मा अस्थिर या व्याकुल हो जाती है, ऐसे स्त्री, धन-धान्य, दासी-दास आदि बहिरङ्ग परिग्रह का सर्वथा या आंशिक त्याग को आकिंचन्य धर्म कहते हैं। क्योंकि वास्तविक निराकुल अवस्था परिग्रह के त्याग से ही होती है।

१०—उत्तम ब्रह्मचर्य्य

शीलवाड नौ राख, ब्रह्मभाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा॥

मन, वचन, काया से स्त्री मात्र का त्याग करना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। अथवा मन, वचन, काया से पर स्त्री त्याग और अपनी विवाहित स्त्री में सन्तोप करना एक देश ब्रह्मचर्य है। इन्द्रियों की पराधीनता और मन की कुटिलता का प्रधान कारण कनक (सोना) और कामिनी (स्त्री) है। काम वासना एक ऐसी भयानक वासना है कि उसके आधीन साधु, सन्त, तपस्वी ब्रह्मादि महापुरुष भी स्त्री के रूप में मोहित हो जाते हैं। उस समय आत्म-ज्ञान कर्पूर की तरह उड़ जाता है। उस समय ये विचार आत्मा में नहीं रहता कि मैं जिस क्षण नश्वर शरीर में आसक्त हूँ उसका स्वरूप क्या है? और उसका आत्मा के साथ क्या भेद है? पर सोचें कौन? उस समय तो—

कूरेतिया के अशुचि तन में, काम रोगी रति करै।
बहु मृतक सड़हि मसान, माहीं काक ज्यों चोंचे भरै॥

इस तरह के निंद्य शरीर में किसी तरह की आसक्ति का न होना ब्रह्मचर्य है। अथवा इन वासनाओं से रहित होकर आत्म-

स्वभाव से लीन होना ब्रह्मचर्य है। ये ही दश धर्म आत्मा के स्वभाव हैं।

जिन कौन हैं ?

इसीलिये जिन बनने को जितेन्द्री, संयमी और परम शान्त होने की आवश्यकता है। जिन्होंने अपने ज्ञान, वैराग्य और त्याग से आत्म-स्वरूप को पा लिया, वही जिन कहाने लगे और उन्होंने कर्मों को जीतने का अनुभूत मार्ग बताया, वही जिन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिन किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं। जो आत्मा अपना पूर्ण विकास कर लेगा, वही जिन बन जायगा। जैन-धर्मानुसार वही भगवान है और वही परमात्मा है। परमात्मा बनने के पहले पाँच अवस्थाएँ जीव की होती हैं।

पंचपरमेष्ठी

१—साधु—संसार की माया, ममता त्याग कर आत्मसाधन में जुट जानेवाले महापुरुष को साधु कहते हैं।

२—उपाध्याय—संयमी जीवन में तत्त्वों का मनन करना-कराना, ध्यान का अभ्यास करना-कराना, संयम का प्रशस्त पालन करना और उनका ज्ञान साधुओं को कराना।

३-आचार्य—संयमी होकर साधु संघ में संयम की मर्यादा सुरक्षित रखना, संघ के साधुओं के आचरण में आपतित दोषों का निराकरण करना एवं संघ को पूर्ण संयम पालक बनाना।

४—अरहंत या जिन—पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने से सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा का निज स्वभाव प्रकट हो जाता है। तब संसार के पदार्थ उनके आत्मज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उनका प्रतिपादन अरहन्त के द्वारा स्वभावतया होने लगता है, जिससे संसार के जीव तत्त्वज्ञान का रहस्य जान जाते

हैं। जब तक शरीर का सम्बन्ध रहता है, तब तक वे जीवन-मुक्त कहलाते हैं।

५—जब शरीर का सम्बन्ध छूट जाता है, तब सिद्ध—हो जाते हैं। सिद्ध होने बाद के उनका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये उन्हें मुक्त कहते हैं। अरहन्त और सिद्ध ही जिन कहलाते हैं। जैनधर्म मुक्त जीव का संसार में फिर से वापिस लौटना नहीं मानते। क्योंकि संसार में परिभ्रमण करानेवाला कर्म-पटल सिद्धों को कभी नहीं दबा सकता। वह कर्मों से सर्वदा मुक्त है।

जिन की उपासना

अब प्रश्न यह होता है कि जैन-धर्म जब कि जिन को रागद्वेष रहित-वीतराग और सर्वज्ञ मानता है और यह भी मानता है कि हमारी उपासना से प्रसन्न होकर वे हमको दयाकर कुछ नहीं देते। न देने-लेने का उनका स्वभाव ही है, तब उनकी उपासना या पूजा, भक्ति, स्तवन आदि क्यों किया जाता है? इसका उत्तर एक प्रधान महर्षि ने इसप्रकार दिया है:—

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजा।
हेतुस्तत्र विचित्र दुःखनिचयः संसार घोरार्णवः॥
अत्यन्त स्फुर दुग्ररश्मि निकरः व्याकीर्ण भूर्मंडलः।
ग्रैष्मः कारयतीन्दु पाद सलिल छायानुरागं रविः॥

—दशभक्तिः

हे भगवान संसार के जीव आपके चरणों में न तो किसी स्नेह से आते हैं और न किसी दबाव से ही। दरअसल उनके आने का कारण यह है कि संसार के रोग-शोक, आधि-व्याधि

से जब वे सताए जाते हैं और संसार में जब उन्हें कहीं शांति नहीं मिलती, तभी आपके पास दौड़े चले आते हैं, जैसे ग्रीष्म-काल के प्रचण्ड सूर्य-किरण के ताप से सताए प्राणी चन्द्रमा की शीतल किरणों में दौड़े चले जाते हैं। अब आप सोचें चन्द्रमा उन्हें क्या दे देता है ? किन्तु चन्द्र के आश्रय में पहुँच कर जिस प्रकार उन्हें शान्ति मिलती है, उसी प्रकार आपके चरणों में उन्हें भारी शान्ति मिलती है। क्योंकि चन्द्रमा की तरह आपकी स्वाभाविक मुद्रा भी शान्तिमय किरणों से व्याप्त है। वहाँ सांसारिक आधि व्याधि अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती। इसलिये जब तक आप जीवन्मुक्त अवस्था में विराजमान रहे, तब तक तो संसार-दावानल तप्त प्राणियों ने साक्षात् आपका आश्रय लिया और जब आपका काल दोष से आश्रय न मिला, तब आपकी प्रतिमा का आश्रय लेने लगे। यही आशय जैनियों की प्रतिमा पूजन का है। चूंकि जैन-धर्म निवृतिपरक-त्याग को मुख्यता आत्मधर्म की प्राप्ति में मानता है। इसलिये उसका आदर्श उत्कृष्ट त्यागमय होना चाहिये। इसीलिये जैन-धर्म ने अपने जिन देव का स्वरूप निर्विकार सत् चित् आनन्दमय निर्लेप माना है। अपरिग्रहवाद जैनियों का मुख्य सिद्धान्त है। क्योंकि परिग्रह, माया, ममता का प्रधान कारण है। वीतराग से माया-ममता का लेश भी नहीं रहता. इसलिये जीवन्मुक्त अवस्था में जिस प्रकार परम शान्त सांसारिक वासनाओं से सर्वथा परे निर्लेप उनकी रूपरेखा होती है, उसी तरह आज उनकी प्रतिमा बनाकर पूजा के योग्य मानी जाती है। क्योंकि हमको सांसारिक झंझटों से दूर होना है, इसलिये हमारा आदर्श भी वही होना चाहिये। जो रूप हमको परम शान्त और अमिट सुख का केन्द्र बनाने में साधक तप हो। इसी गर्ज से हमारी

पूजा त्यागमय होती है। हम पूजन की प्रत्येक सामग्री को 'निर्वपामि' त्याग करते हैं। इस भावना से देव के सामने रखते हैं और उसमें पुनः आसक्ति न हो, यह भावना हृदय में अङ्कित करते हैं, जिससे हमारा अनादि कालीन मोहत्यक्त पदार्थों में पुनः जागरूक न हो। यही हमारी पूजा का प्रधान लक्ष है।

सभी तीर्थङ्करों की प्रतिमा एक-सी क्यों होती हैं ?

प्रत्येक ज्ञानी आत्मा ने परम शान्त अवस्था धारण कर ही आत्म-विकास पाया है। क्योंकि कर्म पटल बिना वीतरागता-निष्प्रहिता और परम शान्त अवस्था प्राप्त किए बिना आत्मा से दूर नहीं हो सकता। जब तक पूर्ण समता प्राप्त न हो जावे, कोई आत्मा जीवन्मुक्त हो नहीं सकता, न अरहन्त या जिन बन सकता है, तब जिन अवस्था जिस मुद्रा से प्राप्त होती है, वही जिन लिंग है और जिन लिंग-जिन का वेष-विन्यास हर समय हर काल और देश में एक-सा ही होगा अन्यथा या अन्य प्रकार नहीं हो सकता। इसलिये जिन प्रतिमाएँ सदा एक-सी होती हैं, जिससे पूजनेवालों या जिनत्व-प्राप्त करने की चेष्टा करनेवालों के सामने एक ही आदर्श रहे और जिससे वे अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

जैन-धर्म का आद्य स्थापक कौन है ?

जबकि आपकी आत्मा अनादि से कर्म-जाल के चक्कर में पड़कर नानाप्रकार के त्रास पा रही है, तब यह प्रश्न स्वयं ही हल हो जाता है कि आपकी आत्मा में अनादि से ही चेतना-जानने और देखने की ताक़त थी, पर वह बाहरी कारण कसायों से विकार-युक्त थी; पर आपका चैतन्य स्वभाव अनादि

है उसे किसी ने बनाया नहीं। ईश्वर की तरह आत्मा भी अनादि है और जब आत्मा अनादि है, तो उसका धर्म आदि कैसे हो सकता है। क्योंकि आत्मा धर्मी है और चेतन्य उसका धर्म है। जैसे अग्नि धर्मी है और उष्णता उसका धर्म है। अग्नि में उष्णता कब किसने लाकर दी ? चाँदी में श्वेत रूप किसने भर दिया, जिस तरह उजेला या प्रकाश अनादि है, उसी प्रकार अन्धकार भी अनादि है। इसी प्रकार संसार में जितने पदार्थ आप देख रहे हैं, वे और उनमें रहनेवाले सभी गुण या धर्म भी अनादि से हैं। हाँ, यह बात तो अवश्य है कि जिन द्रव्यों में में जो-जो गुणधर्म हैं, उनका ज्ञान सभी मनुष्यों या प्राणियों को नहीं होता। इसलिये उन गुणधर्मों के जानकार उन द्रव्यों का स्वरूप उस विषय के अजानकारों को समझाते हैं। पर इसका यह मतलब कभी नहीं होता कि उस विशेषज्ञ ने उन पदार्थों में गुण धर्म पैदा कर दिया है। क्योंकि सभी द्रव्य और गुणधर्म अनादि हैं और अनादि से ही इनके जानकार संसार में मौजूद हैं। इसलिये यह कैसे माना जाय कि जैनधर्म का आद्य स्थापक अमुक महर्षि या महात्मा हैं। जबकि जैन धर्म आत्म धर्म है, जिसका स्पष्ट अर्थ होता है वस्तुओं में रहनेवाले गुण-धर्मों का ज्ञान करानेवाला धर्म, तब यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि इस धर्म का आद्य प्रकाशक भी अनादि कालीन है, पर स्थापक कोई नहीं है। हाँ, यह बात तो अवश्य है कि समय-समय पर जिन आत्माओं ने अपना पूर्ण विकास कर लिया और सर्वज्ञता पाकर जिन या अरहन्त हो गए, वे ही अपने समय के प्रकाशक कहलाए अर्थात् उन्होंने जैन-धर्म का अनादि सिद्धान्त दुनियाँ के सामने रक्खा। इस तरह के महापुरुषों में जो विशेष प्रतिभा-सम्पन्न हुए वे तीर्थङ्कर कहलाये।

इस तरह के २४ तीर्थङ्कर इस जमाने में हुए और सबसे अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी हुए हैं और चतुर्थ युग के आरम्भ में आद्य तीर्थङ्कर श्रीऋषभनाथजी हुए हैं।

जैन संस्कृति क्या है ?

यही प्रश्न अत्यन्त महत्व का है, जिसपर गंभीरता से विचार करना चाहिए। संस्कृति-संस्कार को कहते हैं। संस्कार से ही जीवन बनता-बिगड़ता है। इसलिये भारत के सभी धर्मों ने अपने-अपने दृष्टिकोण को मद्दे नज़र रखकर अपनी-अपनी संस्कृति-सृजन, परिवर्द्धन और प्रचार की रूपरेखा का जीता-जागता चित्र खींचा है। क्योंकि प्रत्येक धर्म का प्रचार उसकी संस्कृति की सहमीयता पर निर्भर है। जैन-धर्म ने अपनी संस्कृति के रेखाचित्र बनाने के पूर्व रङ्गमञ्च तैयार किया और बाद उसपर अपना नकशा बनाया। यही कारण है कि अनादि काल से आज तक हजारों विरोधी हमलों को सहकर भी अपना नकशा धूमिल भी न होने दिया, क्योंकि जैन-धर्म की भूमिका इतनी दृढ़ थी कि उसपर से नकशा मिटाया न जा सका।

जैन-धर्म ने आत्म-विकास करनेवालों को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों से बचाया है, जिनसे मानव समाज का व्यवहार सम्योचित नहीं रहता तथा सम्योचित गुणों का मानव में विकास नहीं होने पाता। एवं मद्य-शराब, मधु-शहद, मांस-दो इन्द्रियों से (के शरीर) लेकर पंचेन्द्रियों के शरीर को त्याग करने की व्यवस्था नहीं है, जिससे मानव समाज में सात्विक गुण का पूर्ण विकास हो सके। यही कारण है कि जैन-धर्म अहिंसा प्रधानी धर्म आज भी संसार के धर्मों में गिना जाता है। श्री लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय

ने बड़ौदा में अपने भाषण में कहा था कि "सबसे प्रथम अहिंसा का पाठ जैन-धर्म ने ही भारत को पढ़ाया था। यहाँ तक कि वेदों पर भी जैनधर्म की अहिंसा की छाप पड़ी थी।"

विश्वनिर्माण में जैन-संस्कृति से क्या सहायता मिल सकती है ?

जैन-धर्म चूंकि प्रत्येक आत्मा के चरम सीमा के विकास को सिद्धान्ततः मानता है। अतः अखिल विश्व के प्राणी प्रत्येक आत्मा के मित्र हैं और सिद्धान्त की दृष्टि से अखिल विश्व के प्राणी जैन-धर्म के सिद्धान्त पालने के अधिकारी हैं। अतः सबके साथ हमारा बन्धुत्व का नाता बेरोक टोक बन सकता है। क्योंकि जैनधर्म छोटे-से-छोटे प्राणी को नष्ट करने या दुःख पहुँचाने की आज्ञा नहीं देता। तब हमारा विश्व में कोई शत्रु नहीं रह जाता। हमारी संस्कृति हमको सभ्य नागरिक बनाती है। अतः हम संसार के किसी भी प्राणी को सताए बिना अपना व्यवहार निर्बाध कर सकते हैं। यही कारण है कि १५० वर्ष के इङ्गलिश राज्यकाल में पुलिस या कारागाहों की रिपोर्ट में आप जैन मुलजिमों की संख्या नाम मात्र की ही पावेंगे। क्योंकि जैन लोग आठ पापों से तो सिद्धान्ततः बचने की जी भर चेष्टा जन्म से ही करते हैं। इसलिये उनसे समाज को अच्छे व्यापारी, धनाढ्य और व्यवहार कुशल प्राप्त होते हैं।

कारागार में जाने योग्य अपराध स्वाभाविक संस्कृति से ही नहीं बन पड़ते और यही कारण है कि हम जैनों में दूसरी एक महत्वपूर्ण बात यह है कि आज तक के इतिहास से कोई यह नहीं साबित कर सकता कि जैन-धर्म के प्रचार में कभी तलवार

या अन्य शस्त्र से काम लिया गया हो या बलपूर्वक किसी दीन या समर्थ को जैन बनाया गया हो; क्योंकि जैन धर्म का प्रधान अङ्ग अहिंसा है।

अहिंसा का स्वरूप

यत्खलु कषाय योगात् प्राणानां द्रव्य भाव रूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥
—पु० सि० श्री अमृतचन्द्र सूरि

क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों से या मोहादि से मन, वचन, काया में जो चञ्चलता आती है, उससे अपने या दूसरे प्राणियों के द्रव्य प्राणों का या भाव प्राणों का घात करना, या घात करने का इरादा करना निश्चय से हिंसा है।

द्रव्यप्राण—पाँच इन्द्रिय १—स्पर्शन २—रसना ३—घ्राण ४—चक्षु ५—श्रोत्र-मानबल ६—मनोबल ७—बचनबल ८—कायबल ९—श्वासोच्छ्वास १०—आयुः—ये दश हैं।

भावप्राण—समत् आवरण कर्म के क्षयोपशमादि से जीव में जीवितपने का व्यवहार हो उसे भावप्राण कहते हैं।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
—पु० सि० श्री अमृतचन्द्र सूरि

असली बात तो यह है कि आत्मा में अपने या दूसरे को सताने के लिये रागद्वेष न होना ही अहिंसा है और रागद्वेष

होना ही हिंसा है। यही जैनधर्म की हिंसा या अहिंसा की स्पष्ट परिभाषा या रूपरेखा है। चाहे जीव मरें या न मरें यदि मारने के परिणाम हो गये, तो रागद्वेष की सत्ता होने से आत्म परिणामों में विचार आ ही गया। इसलिये हिंसा से बच नहीं सकते और यदि परिणामों में कोई विचार नहीं हुआ और मार्ग चलते या किसी चीज को सावधानी से धरते—उठाते जीव वध भी हो जावे तो रागद्वेष भावों के अभाव से हिंसा नहीं होगी।

जैन-धर्म ने विचारधारा को दूषित न होने को ही आत्म-प्रतिष्ठा माना है। विचारों में कलुषता आने से ही स्वरूप च्युत आत्मा हो जाता है और तभी वह बहकने लगता है। अतः नानाप्रकार के अनर्थों की ओर उसका झुकाव हो जाता है। तभी हिंसादि पाँच पाप या तीन मकार—मद्य, मांस, मधु का सेवनकर सांसारिक विषय-वासना में उलझ जाता है और यही उसके संसारबन्धन का कारण है। अतः एक मनीषी विद्वान ने कहा है कि:—

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः।
तद् दुष्यन्तं ततो रक्षेत् धरिः समय भक्तितः॥

अर्थात् आत्मा के परिणाम—विचारधारा पुण्य-पाप के कारण हैं। अतः सचेता प्राणी को सदा अपने विचारधारा को पवित्र बनाए रखने की चेष्टा करना चाहिए।

इस कथन का स्पष्ट आशय यह है कि जब तक भावहिंसा—विचारों में अपने या दूसरों के सताने या मारने का अभिप्राय न होगा। हम द्रव्यहिंसा—किसी का या अपना घात नहीं कर सकते और विचारधारा दूषित होने का नाम ही रागद्वेष या

प्रमाद है और "प्रमतयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा"—उमास्वरमि प्रमाद के योग से प्राणीमात्र को कष्ट देना हिंसा है।

आत्मा और परमात्मा की परिभाषा

आत्मा—जिसका ज्ञान दर्शन स्वभाव हो, आदि अन्त रहित हो, अमूर्ति-रूप रस, गंध, स्पर्श रहित हो और उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त, अस्तित्व वस्तुत्वादि अनन्त धर्मों का स्वामी हो, उसे जीव या आत्मा कहते हैं। किन्तु अनादि काल से जीव के साथ जड़स्वभाव पुद्गल-अचेतन द्रव्य का सम्बन्ध है। इसलिये उसके निजरूप के विकास में ऐसा अन्तर आ गया है कि सामान्य ज्ञानवाले मानव-समाज को उसकी असलियत का पता नहीं चलता कि जीव कैसा है? और उसको कैसे पहिचाना जाय। इसलिये जैन दर्शनकारों ने उसके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये उसे तीन भागों में विभक्त कर उनके लक्षणों का अलग-अलग निरूपण किया है। यथा—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा।

बहिरात्मा—'देह जीव को एक गिने, बहिरात्मा तत्त्व मुधा है' जो शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश होने पर अपना मरण मानता है, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

अनादि काल से कर्मों ने इस आत्मा पर अपना ऐसा प्रभाव जमा लिया है कि वह यह जरा भी नहीं जान पाता कि मेरा असली रूप ज्ञान दर्शनमय है, मैं अमूर्त हूँ, कर्म जड़ है और इनकी नाना प्रकार की मूर्तियाँ, पशु, पक्षी, वृक्षादि रूप हम देखते हैं। ये उत्पन्न हो-होकर नष्ट होती रहती हैं, पर आत्मा एक मकान से दूसरे मकान की तरह नानाप्रकार के शरीरों को बदलता रहता है। मकान के नष्ट हो जाने पर हमारा नाश जिस तरह नहीं होता, उसी तरह शरीर के नाश होने पर हमारा

नाश नहीं होता। किन्तु जैसे एक ही आत्मा बालक से युवा और वृद्ध पर्यायें धारण करता है, उसी तरह मनुष्य शरीर से देव शरीर को भी बदल लेता है और यही आत्मा अनादि काल से करता चला आया है। इस विज्ञान को जो नहीं समझते, वही बहिरात्मा है और वे अपने स्वरूप के भूल जाने से जड़स्वभाव-वाले माटी, पत्थर आदि खनिज पदार्थों को धन मानकर और स्त्री पुत्रादि जोकि हमारे एक पर्याय के साथी हैं उनको अपना मानते हैं और उनके संयोग-वियोग में हर्ष विशाद करते हैं। इसलिये उसका ज्ञान बहक जाता है और उसी अज्ञान भाव से वह संसार की माया, ममता में लीन रहते हैं।

अन्तरात्मा—जिन्होंने अपने स्वरूप को समझ लिया हो और जड़-शरीरादि को अपने आत्मा स्वभाव से भिन्न अनुभव कर लिया हो, वे अन्तरात्मा हैं, उनके उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा, जघन्य अन्तरात्मा—ये तीन भेद हैं।

उत्तम अन्तरात्मा—द्विविध संगबिन शुध उपयोगी मुनि उत्तम निज ध्यानी—अन्तरंग परिग्रह—ममता-रागद्वेष से पर पदार्थों का अपना मानना—बहिरंग परिग्रह—धन, धान्य, दासी, दास आदि के संयोग-वियोग में या शिष्यादि के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद मानना इन दोनों तरह के परिग्रह से रहित शुद्ध आत्मा के उपयोग में निरन्तर मग्न रहनेवाले और आत्मीय ध्यान से कर्मों को नष्ट करनेवाले मुनि-महर्षि उत्तम अन्तरात्मा हैं।

मध्यम अन्तरात्मा—"मध्यम अन्तर आत्मा हैं जे देशव्रती आगारी"—अहिंसादि पाँच पापों को आंशिक पालनेवाले, मद्य, मांस, मदिरा के त्यागी और आँच इन्द्रिय और मन को अपने

वश में करने के लिये नैष्ठिक श्रावक के वृतों को पूर्ण श्रद्धा से ज्ञान-पूर्वक आचरण करनेवाले मध्यम अन्तरात्मा हैं। इनकी आत्मा में आत्मा का अनुभव तो हो ही जाता है, पर अपनी अनादि कालीन आदत से लाचार होकर आत्मा के शुद्ध अनुभव करने में असमर्थ हैं, एवं दोनों प्रकार के परिग्रहों को सर्वथा छोड़ने में भी असमर्थ हैं, इसलिये गृहस्थ जीवन में रहकर जितना हो सकता है, कम परिग्रह रखते हैं और पंचेन्द्रियों के विषयों की, अपने आने-जानेवाले क्षेत्र की, धन-धान्य, दास-दासी आदि की अपनी सुविधानुसार मर्यादा कर लेते हैं और धीरे-धीरे अपनी शक्ति को बढ़ाकर अपने संयम को बढ़ाते चले जाते हैं। अपने उपयोग और आचार को ख़राब नहीं होने देते। इस तरह अपनी इन्द्रियादि के निग्रह से आत्म स्वरूप को विकसित कर कर्मों के दृढ़ बन्धन को ढीला करने का सतत प्रयास करते हैं।

जघन्य अन्तरात्मा—"जघन कहे अविरत समदृष्टि, तीनों शिव मग चारी"—जिनकी आत्मा ने अपने स्वरूप का अनुभव तो कर लिया है पर अनादि-कालीन कर्म के प्रभाव से साधारण आचार पालने में भी असमर्थ हैं। वे जीव यह तो पूर्णतया जानते हैं कि जब तक मैं अपनी इन्द्रियों और मन को सांसारिक विषयों से न हटाऊँगा, तब तक मुझे वास्तविक शान्ति न मिलेगी और उनका यही सच्चा विश्वास है पर वे मोहनीय नामा कर्म के दबाव में आकर वृतादि करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसलिये ही उनका नाम जघन्य अन्तरात्मा या अविरत सम्यग्दृष्टी हैं। ये तीनों—उत्तम, मध्यम, जघन्य—अन्तरात्मा मोक्ष मार्ग में लगे हुए हैं। क्योंकि उनको आत्मा के असली रूप का अनुभव हो गया है।

परमात्मा—जिनकी आत्मा में ज्ञान, दर्शन, स्वभाव का पूर्ण विकास हो गया हो और संसार के चर-अचर पदार्थ स्पष्ट दीखने लगे हों, एवं जिनका ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, अनन्त हो गया हो, वे परमात्मा हैं। उनमें जो शरीर के आश्रय रहकर संसारी आत्माओं को पदार्थों में रहनेवाले गुणधर्मों का व्याख्यान करनेवाले जीवन्मुक्त या सकल परमात्मा भगवान् ऋषभदेव, रामचन्द्र, हनुमान आदि इन्हीं को अरहन्त या जिन कहते हैं।

और जो संसार से सम्बन्ध-त्याग कर भौतिक शरीर को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थिर हो लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो गये हों, वे सिद्ध परमात्मा हैं।



Printed and published by Girja Shankar Mehta
(S. S. Mehta and Bros)
at the Mehta Fine Art Press, Benars.